

क ख ग

मिथ का स्वरूप : दिनेश्वर प्रसाद

लोहिया : एक संपृक्त व्यक्तित्व

धर्मेन्द्र गोपल

रमेशचन्द्र शाह

ओम प्रकाश दीपक

संगमलाल पाण्डे

प्रमोद सिनहा

विपिन कुमार अग्रवाल

क ख ग

(विचारों का त्रैमासिक)

हरिमोहनदास टण्डन

(कोषाध्यक्ष और व्यवस्थापक)

५७, रानीमण्डो, इलाहाबाद

रघुवंश

संयोजक

३, बैंक रोड, इलाहाबाद-२

क ख ग के प्रस्तावक

रामसिंह तोमर	:	बदरीविशाल पित्ती	:	हरिमोहनदास टण्डन
कुँवरनारायण	:	विनयमोहन शर्मा	:	ओमप्रकाश शर्मा
देवराज	:	विद्यानिवास मिश्र	:	गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
राकेश गुप्त	:	नरेशचन्द्र चतुर्वेदी	:	नित्यानन्द तिवारी
शिञ्जारी	:	टीकमसिंह तोमर	:	उमा राव
जगदीश गुप्त	:	बालकृष्ण राव	:	प्रीति अदावल
आत्माराम शाह	:	विजयदेवनारायण साही	:	परमानन्द श्रीवास्तव
वीरेन्द्रकुमार भटनागर	:	ब्रजेश्वर वर्मा	:	विनोद दुबे
गोपालचन्द्र सिंह	:	अजितकुमार	:	पूरनचन्द पुरवार
कल्याणमल लोढ़ा	:	स० ही० वात्स्यायन	:	कृष्ण जी
मलयज	:	श्यामकिशोर सेठ	:	गंगाप्रसाद बिमल
		श्रीराम वर्मा		

एक अंक २॥)

वार्षिक १०)

सम्पादक :

विपिन कुमार अग्रवाल

लक्ष्मीकान्त वर्मा

कृष्णनाथ

रामस्वरूप चतुर्वेदी

रघुवंश

१९६८

मिथ का स्वरूप	६	दिनेश्वर प्रसाद
परमाणु, संस्कृति और टॉयनबी	१५	रमेशचन्द्र शाह
भारतीय प्रजातंत्र : नये मोड़ पर	२३	योगेश अटल
स्वातंत्र्योत्तर बदलते परिवेश		
और हमारी चिन्तन-दिशाएँ	२६	अमर गोस्वामी
लोहिया और महासंघ	३७	प्रमोद सिन्हा
डॉ० लोहिया की विचार-पद्धति	४२	संगमलाल पांडेय
दल-परिवर्तन : जनतंत्र	५३	प्रकाश चंद्र शास्त्री
लेखक का और समाज नायक		
का भी आन्तरिक संघर्ष	५६	अजित कुमार
लोहिया और भारतीय समाजवाद	६०	धर्मेन्द्र गोयल
नैतिकता और आध्यात्मिकता के		
बीच पुल	६४	ओम प्रकाश दीपक
हम हिन्दी में काम क्यों करें	६६	विपिन कुमार अग्रवाल

कविताएँ

एक आत्म-कथ्य	३४	सुधा गुप्त
चार कविताएँ	३५	विश्वनाथ प्रताप सिंह

दृष्टिकोण

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण	७५	रमेशकुमार भारती
आर्थिक मंदी—सत्य व तथ्य	७७	त्रिभुवन चतुर्वेदी

समीक्षा

आत्महत्या के विरुद्ध	८३	श्रीराम वर्मा
----------------------	----	---------------

आज के दुर्दान्त आर्थिक प्रतियोगिता
और एकांतिक व्यावसायिकता के युग में
आधी शताब्दी पूर्व
एक महान ऋषिकल्प स्वप्नदर्शी
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन ने
कुछ आगे-पीछे तीन संस्थाओं की स्थापना की थी :
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दी विद्यापीठ और
साहित्य भवन ।
तब से पूर्ण नैष्ठिकता के साथ अनवरत

साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड

इलाहाबाद—३

[प्रकाशक एवं विक्रेता]

राष्ट्रभाषा की अनन्य सेवा
और सत्साहित्य के प्रकाशन में रत है ।
साहित्य भवन के विश्रुत कृतिकारों की
परंपरा में कुछ नाम :
आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य सुनीति कुमार चाटुर्ज्या,
आचार्य नन्दलाल बसु, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी,
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, गुरुदयाल मलिक,
डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० विनयमोहन शर्मा,
पद्मश्री महादेवी वर्मा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी,
डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त,
डॉ० लक्ष्मी सागर वाष्णेय आदि ।

●

मिथ का स्वरूप

दिनेश्वर प्रसाद

आख्यान और लोक कहानी के अतिरिक्त लोककथा का तीसरा भेद मिथ^१ है जिसने प्राचीन काल से ही संस्कृति के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है और जिसके स्वरूप की व्याख्या अभी भी विवादास्पद बनी हुई है। जहाँ लोक कहानी काल्पनिक होती है और मुख्यतः मनोरंजन के लिए ही कही और सुनी जाती है, वहाँ आख्यान और मिथ सत्य माने जाते हैं। आख्यान का आधार, लोक-साहित्य के आधुनिक अध्येताओं की दृष्टि में भी, किसी-न-किसी सीमा तक सत्य होता है। इसे विकृत इतिहास कहना इसी बात का प्रमाण है और यह इंगित करता है कि इसके मूल में कोई ऐतिहासिक घटना रहती है जो कालांतर में अतिरंजित हो जाती है। मिथ, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सत्य नहीं होता। यूरोपीय भाषाओं में इसका सत्य के विपरीतार्थक शब्द के रूप में प्रयोग भी होता है। किन्तु जिन जातियों द्वारा मिथ कहे और सुने जाते हैं, उनके द्वारा ये सत्य माने जाते हैं। किम्बॉल यंग ने लिखा है कि मिथ और आख्यान विश्वास करने वाले व्यक्तियों द्वारा सत्य माने जाते हैं। हम अपने मिथ और आख्यानों को मनोरंजन के लिए गढ़ी गयी विचित्र या विदेशी कथाएँ नहीं, बरन् वास्त-

१. प्रस्तुत निबन्ध में यूरोपीय भाषाओं में प्रचलित शब्द 'मिथ' का अविकल प्रयोग किया गया है। इसके पर्याय के रूप में, डॉ० सत्येन्द्र द्वारा गढ़ा जाकर, 'धर्मगाथा' शब्द प्रचलित हो गया है जो हिन्दी के लोक-साहित्य सम्बन्धी शोधग्रन्थों और 'हिन्दी-साहित्य-कोश' में देखा जा सकता है। इस समस्त शब्द के प्रथम पद 'धर्म' के विषय में मेरी आपत्ति यह है कि धर्म का मिथ से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने मानव संस्कृति के इतिहास में जादू को धर्म का पूर्ववर्ती माना है, जबकि मिथ जादू के युग में भी विद्यमान था। 'गाथा' शब्द से जिस गेयता का संकेत मिलता है, वह मिथ की कोई आवश्यक रूपगत विशेषता नहीं है। कभी-कभी इसके लिए 'पुराणकथा' का प्रयोग किया जाता है; किन्तु इस शब्द के द्वारा कथा की प्राचीनता और पवित्रता का संकेत भले ही मिले, इससे मिथ के प्रसिद्ध पुराणग्रन्थों की कथा होने का भ्रम उत्पन्न होता है। यह सही है कि पुराणों में मिथ हैं, लेकिन उनमें वैसी कहानियाँ भी हैं जो मिथ नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों से 'मिथक' का प्रयोग चल पड़ा है। यह बात समझ में नहीं आती कि मिथ का विस्तार कर इसे 'मिथक' क्यों बनाया जाय !

—लेखक

विक घटनाओं और अभिप्रायों का विवरण मानते हैं। यह स्पष्ट है कि असंस्कृत जातियों के मिथ और आख्यान हमारे लिए मुख्यतः इसलिए कोई अर्थ नहीं रखते कि वे हमारी संस्कृति से बाहर पड़ते हैं।" (सोशल सायकॉलॉजी, पृ० १६६) किन्तु मिथ और आख्यान के सत्य में एक उल्लेख्य भेद है। जहाँ आख्यान का सत्य भौतिक होता है, वहाँ मिथ का सत्य आधिभौतिक। आदिम जातियों में प्रचलित वैसी कथाएँ, जिनमें अतिप्राकृत पात्रों और घटनाओं अथवा अतिप्राकृत पात्रों द्वारा प्रभावित प्राकृत पात्रों और घटनाओं का वर्णन पाया जाता है, मिथ कहलाती हैं। ये विश्व की उत्पत्ति और इसकी विचित्रताओं की व्याख्या करती हैं तथा सुदूर अतीत में घटित बतलायी जाती हैं। इस प्रकार, प्राक्-सृष्टि और सृष्टि के आदिम काल की वास्तविकता की व्याख्या इनका उद्देश्य है।

मिथ और लोक कहानी का पार्थक्य निर्देश करने में प्रसिद्ध मानव वैज्ञानिक फ्रांज़ बोअज़ ने कठिनाई का अनुभव किया है।^१ दोनों में समान कथावस्तु मिल जाया करती है। दोनों की सामग्री एक दूसरे में प्रवाहित होती रहती है। यदि यह कहा जाय कि मिथ में प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण किया जाता है तो यह विशेषता कहानी में भी मिलती है। पशु-कथाओं में पशुओं का मानवीकरण किये जाने के बावजूद इन्हें कहानी के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाता है। पुनः, यदि यह कहा जाय कि मिथ में प्राकृतिक विचित्रताओं की व्याख्या मिलती है तो कई लोक कहानियाँ इस विशेषता का भी दावा कर सकती हैं। वस्तुतः "मिथ की परिभाषा की अपेक्षा मिथिक धारणाओं की परिभाषा कहीं सरल है। मिथिक धारणाएँ विश्व के संगठन और इसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित आधारभूत विचार हैं। ये मिथिक प्राणियों के जीवन की घटनाओं और हमारे समकालीन, प्रायः परिचित व्यक्तियों के अद्भुत कृत्यों और कष्टों से सम्बन्धित लोक कहानियों में प्रविष्ट हो जाते हैं।" (जेनरल एन्थ्रॉपॉलॉजी, पृ० ६०६)

यद्यपि मिथ और लोक कहानी का अन्तर स्पष्ट करना कठिन है, फिर भी बोअज़ ने इसके लिए एक भेदक आधार दिया है। उसके अनुसार, वे कथाएँ मिथ हैं जिनमें (क) प्राकृतिक व्यापारों का मानवीकरण किया गया है और (ख) जिन्हें किसी प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध किया गया है। इसके विपरीत, लोक कहानियाँ आधुनिक कहानी या उपन्यास-साहित्य की समीपवर्ती हैं जिनकी उत्पत्ति 'दैनन्दिन अनुभव के साथ कल्पना के मुक्त विहार' द्वारा हुई है। उसने मिथ और लोक कहानी में एक ओर भेद माना है—मिथ गम्भीरता से गृहीत होते हैं जबकि लोक कहानियाँ मनोरंजन का विषय मानी जाती हैं।

बोअज़ ने मिथ और कहानी के जो भेदक लक्षण दिये हैं, वे दोनों के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाते। सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक सापेक्षता के आधार पर विचार न करने के कारण वह इस समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका है। वस्तुतः इन दोनों का भेदक तत्त्व

१. स्व-सम्पादित "जेनरल एन्थ्रॉपॉलॉजी" में बोअज़ लिखित "माइथॉलॉजी ऐण्ड फ़ॉकलोर" शीर्षक निबन्ध (पृ० ६०६-६२६) और "रेस, लैंग्वेज ऐण्ड कल्चर" (बोअज़) में "डेवलपमेण्ट ऑफ़ फ़ॉकटेल्स ऐण्ड मिथ्स" शीर्षक निबन्ध।

विश्वास है। जो कथा किसी समुदाय-विशेष द्वारा सत्य मानी जाती है, वह मिथ कहलाती है। टायलर के अनुसार सम्भाव्यता के सामाजिक प्रतिमान के बदल जाने पर एक युग का मिथ दूसरे युग की लोक कहानी बन जाता है। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि प्रथाओं और विश्वासों के समर्थन में प्रयुक्त होने पर लोक कहानी मिथ बन जाती है।

मिथ केवल आदिम जातियों में ही नहीं, आदिम स्तर से आगे बढ़ी हुई जातियों में भी प्रचलित हैं। इसका कारण इनका आदिम स्थिति से परवर्ती स्थितियों में प्रवाहित होना है। विकासवादी चिन्तकों ने इन्हें मानव संस्कृति की एक विशेष स्थिति या युग की रचना माना है। उन्होंने उस स्थिति को 'मिथसर्जक' (माइथोपोइक या मिथ-मेंकिंग) कहा है। मानवविज्ञान के पिता टायलर (ई० बी०) ने सबसे पहले इस युग की कल्पना की। उसने, और उससे प्रभावित होकर फ्रेजर ने, मानव संस्कृति के विकास को तीन युगों में विभाजित किया—१—जादूगरी का युग, २—धर्म का युग और ३—विज्ञान का युग। जादूगरी के युग में मनुष्य प्रकृति की सजीवता में विश्वास करता था जिसकी परिणति प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण में होती थी। "दैनन्दिन अनुभव के तथ्यों को मिथों में रूपान्तरित करने वाला सर्वप्रमुख कारण समस्त प्रकृति की सचेतनता है जिसका सर्वोच्च रूप मानवीकरण है।" (प्रीमीटिव कल्चर, प्रथम भाग, पृ० २८५) लेवी-ब्रूल और दुरवीम ने भी टायलर और फ्रेजर की तरह मिथ-सर्जक युग की कल्पना की। लेवी-ब्रूल ने १९१० ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक में आदिम जातियों के मनोविज्ञान को "आदिम मनोवृत्ति" की संज्ञा दी और यह कहा कि आदिम जातियाँ रहस्यात्मक मनोवृत्ति से आक्रान्त रहती हैं। वे वातावरण के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण नहीं अपना सकतीं। उसने 'आदिम मनोवृत्ति' की व्याख्या करते हुए उसे 'प्राक्ताकिक' कहा और अपनी पुस्तक में यह प्रतिपादित किया कि यह प्राक्ताकिकता एक वैसे विश्व-दर्शन का रूप ग्रहण करती है जिसमें सारी सृष्टि अदृश्य शक्ति से अनुप्राणित प्रतीत होती है—वैसी अदृश्य शक्ति से, जो संवेदन-ग्राह्य न होकर भी उनके लिए एक अकाट्य वास्तविकता है। अभिव्यक्ति के धरातल पर यह मनोवृत्ति एक ओर मिथसर्जक कल्पना बन जाती है तो दूसरी ओर जादूगरी-मूलक विधि-विधान। प्राक्ताकिक या प्राक्वैज्ञानिक युग की समाप्ति के साथ मिथ-सर्जक कल्पना भी समाप्त हो जाती है।

लेवी-ब्रूल से किंचित् भिन्न जर्मन विद्वान् वुण्ड्ट की विचारधारा है। वुण्ड्ट ने भी सांस्कृतिक-विकास के तीन युग माने हैं—१—टोटम (गोत्रप्रतीक) युग, २—वीर युग और ३—विज्ञान युग; किन्तु उसने प्रथम दोनों युगों का सम्बन्ध मिथसर्जक कल्पना से स्थापित किया है। टोटम युग में देवता, दानव और अन्य चमत्कारपूर्ण शक्तियों के मिथ विकसित हुए तथा वीर युग में आधिभौतिक शक्तियों और जादू की सहायता से अद्भुत कृत्य करने वाले संस्कृति वीरों के। विज्ञान ने मिथ के विकास को अवरुद्ध कर दिया। आधुनिक मनुष्य की इन पूर्ववर्ती युगों से भेदक विशेषता मिथिक मनोवृत्ति का अतिक्रमण है।

विकासवादी मानववैज्ञानिकों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे मानव संस्कृति पर इस दृष्टिकोण से विचार करें, क्योंकि वे इसे क्रमिक स्थितियों में विभाजित कर देखने के अभ्यस्त हैं। किन्तु गैर-विकासवादी विद्वानों ने इस धारणा को भ्रान्त माना है कि विज्ञान मिथ का

विकास अवरुद्ध कर देता है। एक ओर प्रकार्यवादी (फंक्शनलिस्ट) मानववैज्ञानिक मिथसर्जक युग की कल्पना को अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान के अध्येता विज्ञान और मिथ की विपरीतता की धारणा का खण्डन। किम्बॉल यंग ने इस बात पर बल दिया है कि मिथ मानव मनोविज्ञान की एक अनिवार्य विशेषता है। ये भौतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक जगत् के साथ सामंजस्य की आवर्तक समस्याओं से उत्पन्न हैं। “ये हमारी मूल्य-व्यवस्था के अंग हैं और सामाजिक नियंत्रण के साधनों से सम्बन्धित हैं।” (सोशल सायकॉलॉजी; पृ० २१०) कुछ तार्किक व्यक्ति भले ही इनकी उपेक्षा करें और इन्हें अबौद्धिक या मानसिक विकृति मानें, वास्तविकता यह है कि “मिथ और आख्यान मानव-समाज और संस्कृति के लिए उसी प्रकार अनिवार्य हैं जिस प्रकार हमारे उपयोगितावादी लक्ष्यों की ओर भौतिक विश्व को मोड़ने के लिए यांत्रिक आविष्कार और बौद्धिक साधनों का व्यवहार।” (वही, पृ० २२०-२१) यह सोचना असंगत है कि मनुष्य वैज्ञानिक युग में मिथ से मुक्त हो गया है। केवल मनु और श्रद्धा से मानव जाति की उत्पत्ति, मनुष्य का स्वर्ग से पतन और मरणोपरांत आत्मा का अस्तित्व ही मिथ नहीं हैं, वरन् सामाजिक विकास की निरन्तरता, विश्व में साम्यवाद की अवश्यम्भावी विजय और जर्मन रक्त की सर्वश्रेष्ठता भी। मूल समस्या मिथ को समाप्त करने की नहीं, सामाजिक व्यवस्था में मानव कल्याण के लिए इसकी प्रतिष्ठा और उपयोग की है।

मानव समाज में मिथ का उपयोग इतना वैविध्यपूर्ण रहा है कि इसकी व्याख्या करने वाले अनेक सम्प्रदाय विकसित हो गये हैं। उनमें कुछ प्राचीन हैं और अनेक आधुनिक, और अभी भी नये सम्प्रदाय विकसित हो रहे हैं। वस्तुतः इसका स्वरूप इतना जटिल है कि इसकी कोई भी व्याख्या पूरी नहीं मानी जा सकती। अभी तक कोई वैसा सम्प्रदाय विकसित नहीं हो सका है जो इसकी विभिन्न व्याख्याओं में किसी एक को केन्द्रीय सिद्ध कर सके या उन सबों को एक पूर्ण एवं व्यवस्थित दर्शन का अंग बना सके।

मिथ की व्याख्या करने वाले प्राकृतिक और ऐतिहासिक सम्प्रदाय सर्वथा आधुनिक नहीं हैं। यास्क (७०० ई० पू०) ने वैदिक कथाओं की व्याख्या करने वाले नेरुक्त और ऐतिहासिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। नेरुक्त इन कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं या आध्यात्मिक अभिप्रायों का रूपक मानते थे। वे इन्द्र को विद्युत् और वृत्र को मेघ का मानवीकरण मानते थे तथा इन्द्र-वृत्र संग्राम को विद्युत् और मेघ के युद्ध का रूपक, जिसमें विद्युत् के निरन्तर प्रहार से जल की धारा मुक्त हो जाती थी। यास्क के आसपास एपिकारमस (६०० ई० पू०) और थियोगेनस (५०० ई० पू०) ने रूपकात्मक सम्प्रदाय का विकास किया जिसकी मूल स्थापना यह थी कि ग्रीक देवता प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण हैं। भारतीय नेरुक्त और यूनानी रूपकात्मक सम्प्रदाय का नवीन रूप वह प्रकृतिवादी सम्प्रदाय है जिसका विकास वर्तमान शताब्दी के आसपास जर्मनी में हुआ। इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने यह सिद्ध करना चाहा कि मिथ प्राकृतिक व्यापारों में आदिम मनुष्य की अत्यधिक रुचि के परिणाम हैं। प्रत्येक मिथ अपने अंतिम विश्लेषण में किसी-न-किसी प्राकृतिक व्यापार की कथात्मक अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति के आधार हैं मानवीकरण और प्रतीकात्मकता। किन्तु उनमें इस विषय में पर्याप्त क ख ग—१५

मतभेद था कि किस प्रकार के प्राकृतिक व्यापार मिथ में अभिव्यक्त होते हैं। फलतः वे क्रमशः तीन शाखाओं में बँट गये—चान्द्र, सौर और ऋतुवादी। पहली शाखा के विद्वान् थे एरेन-राइख, जीके और विक्लर, जो १९०६ ई० में बर्लिन में स्थापित मिथ की तुलनात्मक अध्ययन-सभा के सदस्य थे। वे चन्द्रमा के व्यापारों और विशेषताओं को सभी मिथों का मूल मानते थे। दूसरी शाखा में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम फ्रोबेनिउस का है जिसने यह सिद्ध करना चाहा कि आदिम मनुष्य के कवित्वपूर्ण मिथों का प्रेरक सूर्य है। ऋतु-वादी शाखा का विकास इन दोनों के बाद हुआ। मैक्समूलर और कून जैसे विद्वान् इसके सदस्य थे जिन्होंने चान्द्र और सौर शाखाओं को एकांगी बतलाया तथा प्राकृतिक व्यापार मात्र को मिथ का आधार माना। फिर भी उन्होंने अन्य प्राकृतिक पदार्थों की तुलना में वायु, ऋतु और आकाश के परिवर्तित होते हुए रंगों को अधिक महत्त्व दिया।

वुगड्ट ने इस सम्प्रदाय की कठोर आलोचना की। आदिम संस्कृतियों के अध्ययन के आधार पर मलिनोवस्की ने भी इसकी आधारभूत मान्यता के प्रति गम्भीर आपत्ति प्रकट की। उसने यह कहा कि “प्रकृति में आदिम मनुष्य की विशुद्ध कलात्मक या वैज्ञानिक अभिव्यक्ति बहुत सीमित है; उसके विचारों और कथाओं में प्रतीकात्मकता के लिए बहुत कम अवकाश है और वस्तुतः मिथ न तो अकर्मण्य भावोद्गार है; न व्यर्थ की कल्पना की निरुद्देश्य अभिव्यक्ति; वरन् (यह) ठोस; अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक शक्ति (है)।” (द फ्रेजर लेक्चर्स: पृ० ६९) मानवविज्ञान के ऐतिहासिक या विकासवादी सम्प्रदाय के विरुद्ध प्रकाशवादी (फ्रंक्शनलिस्ट) दृष्टिकोण पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण ही मलिनोवस्की ने मिथ की प्रकृतिवादी व्याख्या का निषेध किया। यह सही है कि प्रकृति के प्रति आदिम मनुष्य का दृष्टिकोण मुख्यतः व्यावहारिक है और मिथ की ठोस सामाजिक उपयोगिता है; किन्तु यह कहना सही नहीं है कि आदिम मनुष्य के विचारों और कथाओं में प्रतीकात्मकता के लिए बहुत कम अवकाश है। आदिम मनोविज्ञान के अध्येता रेडफ़ील्ड ने यह कहा है कि आदिम मानव प्रकृति वस्तु और व्यक्ति में भेद नहीं कर पाती तथा मनुष्य और मनुष्येतर जगत् में सहभाग की कल्पना करती है। यह निष्कर्ष टायलर या लेवी-ब्रूल की स्थापना से बहुत भिन्न नहीं है। आधुनिक मनोविश्लेषक आदिम मनुष्य और बालकों के मनोविज्ञान में किसी सीमा तक समानांतरता स्वीकार करते हैं। पायजेट यह कहता है कि बच्चा अपने को शेष जगत् से पृथक् कर नहीं देख पाता—वह विचार और विचार की वस्तु को अभिन्न मानता है। उसने इस प्रवृत्ति को वस्तुवाद कहा है। इसके अतिरिक्त बाल मनोविज्ञान की दो अन्य विशेषताएँ हैं जड़तात्मवाद और कृत्रिमतावाद। जड़ पदार्थों को चेतना और इच्छा-शक्ति से सम्पन्न मानना जड़तात्मवाद है तथा वस्तुओं को स्वयं सर्जनात्मक क्रिया से युक्त मानने की अपेक्षा उन्हें अपनी (मानसिक) सृष्टि का परिणाम मानना कृत्रिमतावाद। रूपकीकरण; प्रतीकीकरण और मानवीकरण की प्रक्रियाओं के साथ इन प्रवृत्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मिथों में प्राकृतिक व्यापारों का मानवीकरण या प्रतीकीकरण, अनेक स्थितियों में, इतना प्रत्यक्ष है कि उसे अस्वीकार नहीं जा सकता :—

उसने (इन्द्र ने) पर्वत पर लेटे हुए अहि (वृत्र) का वध किया। उसके लिए त्वष्टा ने

चमकने वाले विद्युत् की रचना की; और रँभाती हुई गौओं की तरह, अपनी तीव्रगामी धारा के साथ,

नदियाँ समुद्र की ओर बह चलीं । (ऋ० १-३२-२)

सरमा का, पण्डितों द्वारा गुफाओं में छिपायी गायों का अन्वेषण बादलों में बन्दी किरणों के अन्वेषण का अभिप्राय रखता है; ऐसा ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से ध्वनित होता है—
“हे इन्द्र । जब तुमने जल के लिए बादलों को फाड़ डाला, तुम्हारे सामने (गौओं का संदेश लेकर) सरमा प्रकट हुई ।” “जब अंगिरसों ने, उषा के आगमन के समय, (खोजी हुई) गायों को देखा....।” (ऋ० ५-४५-८) ।

ऐसे प्रमाणों के आधार पर मिथों की प्रकृतिवादी व्याख्या को सर्वथा अस्वीकार करना उचित नहीं है । इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इसने मिथ मात्र को प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारों का प्रतीकीकरण माना, जबकि वास्तविकता इससे भिन्न है ।

पूर्वोक्त ऐतिहासिक सम्प्रदाय मिथ को अतीत की वास्तविक घटना मानता है । यास्क ने नैरुक्तों से ऐतिहासिकों का भेद बतलाते हुए यह कहा है कि जहाँ पहले वृत्र को मेघ मानते थे, वहाँ दूसरे उसे त्वाष्ट्र नामक असुर—‘तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः ।’ ग्रीस में यूहेमेरिस्ट सम्प्रदाय के संस्थापक यूहेमेरस (३०० ई० पू०) ने भी यह सिद्ध करना चाहा कि यूनानी मिथ ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरंजित रूप हैं और यूनानी देवता, प्राचीन राजाओं के रूपान्तर । आधुनिक काल के ‘ऐतिहासिक सम्प्रदाय’ का विकास मुख्यतः जर्मनी और अमेरिका में हुआ । इंग्लैंड में इसके प्रतिनिधि डॉ० रीवर्स थे जिन्होंने मिथों और आख्यानों के आधार पर ‘मलेनेसियन समाज का इतिहास’ लिखा । मिथों की इतिहासपरक व्याख्या और उनमें व्यक्त ऐतिहासिक सामग्री के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है । एक ओर लोवी (जर्नल ऑफ अमेरिकन फोकलोर, पृ० १६५ और १६७) इस बात का आग्रह करता है कि आदिम जातियों में इतिहास-बोध नहीं होता और उनकी मौखिक परम्पराओं का अपने आप में कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है, तो दूसरी ओर सैपीर की यह धारणा है कि उनमें (मौखिक परम्पराओं में) ‘इतिहास का स्वर’ रहता है । इसी प्रकार एच० यू० बॉयर की यह मान्यता है कि मिथों में ऐतिहासिक सामग्री मिलती है । उसने स्वयं योरुबा मिथों के आधार पर यह अनुमान व्यक्त किया है कि यह जाति पहले मातृ-प्रधान थी और जीवन-यापन के लिए कृषि का उपयोग नहीं करती थी । वस्तुतः ऐतिहासिक सम्प्रदाय भी प्रकृतिवादी सम्प्रदाय की तरह सत्य को अतिरंजित कर देता है । आदिम मनुष्य में न तो प्राकृतिक व्यापारों के प्रति अभिरुचि का अभाव है और न अतीत के प्रति उपेक्षा । यदि प्रकृतिपरक मिथ हैं तो वैसे मिथ भी जिनका मूल ऐतिहासिक हो सकता है । किन्तु यह कहना कि मिथ ऐतिहासिक तथ्यों के ही अतिरंजित रूप हैं, एक आपत्ति-जनक मान्यता है । प्रकृति और अतीत, दोनों में आदिम मनुष्य की अभिरुचि अधिकांशतः अपने समाज की व्यावहारिक समस्याओं द्वारा उत्पन्न और निर्णीत होती है । उसमें विशुद्ध इतिहासकार की दृष्टि का अन्वेषण निरर्थक है । फिर भी इस सम्बन्ध में प्रकार्यवादियों की सीमा तक जाने की आवश्यकता नहीं । उनमें अधिकांश समाजिक संगठन में मिथ के कार्य या उपयोग के आधार पर

उसकी व्याख्या करते हैं और यह मानते हैं कि उसकी सामग्री जाति विशेष के जीवन में उसके इसी उपयोग के द्वारा निर्णीत होती है। वे मिथ को सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण और दृढीकरण का माध्यम मानते हैं और यह स्वीकार नहीं करते कि उसका कोई इतिहासगत मूल्य भी हो सकता है। यह सही है कि लिखित इतिहास और पुरातत्त्व की तरह मिथ की सामग्री 'ठोस' न होकर 'कोमल' है, किन्तु उचित परीक्षा के बाद इस 'कोमल' सामग्री के आधार पर जाति विशेष के सांस्कृतिक इतिहास का पुनर्निर्माण सम्भव है। हर्सको-विट्स, फुलर और वानसिना के कार्य इस विषय में आदर्श नहीं तो दिशानिर्देशक महत्त्व तो रखते ही हैं।

मिथ के प्रति उपर्युक्त धारणाओं से भिन्न दृष्टि आधुनिक मनोविश्लेषकों और मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक विचारकों की है जो उसे मनुष्य के अवचेतन से सम्बन्धित कर देखते हैं। उनकी दृष्टि में वह एक प्रकार का दिवास्वप्न या फ्रैगटेसी है। फ्रांज़ बोअज़ यह कहता है कि मिथ संवेदनाजन्य अनुभवों की कल्पना द्वारा की गई पुनर्रचना मात्र है और स्वभावतः उनका संशोधित तथा अतिरंजित रूप है। हममें किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही हमारी कल्पना उसके अनुकूल रूप खड़ा कर देती है। यदि कोई घटना हमें आश्चर्य-चकित करती है तो हमारी कल्पना में उसके आश्चर्य तत्वों का परिवर्द्धन हो जाता है। यदि हमारे किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो गयी है तो हमारी कल्पना उसे पुनर्जीवित कर सकती है। अभिप्राय यह कि इस प्रकार की सभी परिस्थितियों में "वास्तविक अनुभव या तो अतिरंजित हो जा सकता है या अपने से ठीक विपरीत रूप ग्रहण कर सकता है, और असम्भव उपलब्ध हो सकता है।"

मिथ, आख्यान, लोक कहानी आदि को कल्पना की क्रीड़ा और दिवास्वप्न मानने के कारण लोक-साहित्य, और विशेषतः मिथ पर फ्रायड और युंग ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। दोनों के निष्कर्षों में जो भी पार्थक्य रहा हो, उन्होंने मिथ को मानव मन की अवचेतन प्रक्रियाओं को समझने का महत्त्वपूर्ण साधन माना है। अवचेतन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रतीकात्मकता है जिसका मनोविश्लेषण में एक विशिष्ट, सीमित अर्थ है। प्रतीकात्मकता का अभिप्राय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई धारणा या प्रक्रिया अवचेतन में दमित आसंगजन्य उसी वस्तु (धारणा या प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती है। प्रतीकों की संख्या अनन्त हो सकती है, किन्तु प्रतीकित धारणाओं की संख्या बहुत सीमित है। फ्रायड के अनुसार प्रतीकित धारणाएँ स्थूल और मूर्त हैं और उनमें यौन भावना का केन्द्रीय महत्त्व है। स्वप्न और मिथ, जिनकी आधारभूत प्रक्रिया प्रतीकीकरण है, समान रूप में परागामी (रिग्रेसिव) हैं तथा वे व्यक्ति और जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास को समझने में पर्याप्त सहायक हैं। फ्रायड ने 'टोटम एण्ड टैबू' में ओडोपस की प्रसिद्ध कथा की व्याख्या इस प्रकार की है : आदिम मनुष्य पहले में कबीले रहता था। ईर्ष्यालु पिता अपने तरुण पुत्रों को भगा दिया करता था और सभी स्त्रियों को अपने अधीन रखता था। सभी भगाये हुए भाइयों ने मिल कर पिता से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। उन्होंने उसे मार कर खा डाला। गोत्रप्रतीक (टोटम) का भोज इस प्रथम अपराध का समारोह है जिससे नैतिक बन्धनों का आरंभ होता है। इस

गोत्रप्रतीकवाद से दो निषेधों का जन्म होता है। वे हैं गोत्रप्रतीक की पवित्रता और कुल से बाहर विवाह।

फ्रायड द्वारा की गयी ओडीपस (मातृ-संभोग) ग्रंथि की यह व्याख्या उसके अनुयायियों द्वारा भी आलोचित हुई है; किन्तु वे मिथ और अवचेतन के सम्बन्ध में व्यक्त उसके विचारों से पूर्णतः सहमत हैं। वे मिथ की रचना के मूल में आदिम जननिक अनुभवों और ओडीपस ग्रंथि को प्रतिष्ठित करते हैं। ब्रिल ने आदम और हौवा की कथा को मानवता के शैशव का वर्णन माना है, जब निश्चिन्तता, नग्नता और स्वतंत्रता का राज्य था। उसके बाद सर्प आता है जो यौन भावना का प्रतीक है और सारी परिस्थिति बदल जाती है। दूसरे शब्दों में, शैशव में प्रत्येक बालक स्वर्ग में रहता है; लेकिन यौन भावना के परिज्ञान अर्थात् वयस्कता के प्रारम्भ के साथ वह स्वर्ग से बहिष्कृत हो जाता है। (बेसिक प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोएनेलिसिस १९६० ; पृ० ६३) सर अर्नेस्ट जोन्स ने अवचेतन के आसंगों की यौनभावना-परक व्याख्या अपने निबन्ध 'कान द्वारा मैडोना (मेरी) का गर्भाधान' में की है जो उनके 'एसेज इन एप्लायड साइकोएनेलिसिस' (पृ० २६६-३५७) में संकलित है। जिस प्रकार भारत में कुन्ती के कान द्वारा कर्ण के जन्म और मरुत द्वारा अंजना के गर्भाधान की कथाएँ प्रचलित हैं, उसी प्रकार कभी यूरोप में यह विश्वास प्रचलित था कि पवित्र आत्मा के श्वास ने मेरी के कान से उसके गर्भ में प्रवेश किया और उसी से ईसा का जन्म हुआ। सर जोन्स ने मिथिक और धार्मिक सामग्री के आधार पर बड़े अध्यवसाय के साथ यह प्रमाणित किया है कि कान योनि का प्रतीक है और श्वास वीर्य का। अवचेतन में किसी भी सद्धिद्र वस्तु का अभिप्राय योनि हो जाता है, यह मनोरोगात्मक उदाहरणों के विश्लेषण से भी स्पष्ट है। इसी तरह श्वास, वायु, ध्वनि, वाणी और शब्द वीर्य के प्रतीक हैं। प्रजापति के मुख के श्वास से मनुष्य जाति की रचना हुई (शतपथ ब्राह्मण, १-३-१७६ तथा १-२-२)। ग्रीक देवी हेरा ने हेफ़ायस्टोस को पवन के द्वारा अपने गर्भ में पाया। अमेरिका की अलगॉड्रिकुयन जाति मिकाबो को वेनोनाह से उत्पन्न मानती है जिसने पश्चिमी पवन द्वारा इसे (मिकाबो को) गर्भस्थ किया। एक चीनी कथा के अनुसार सभ्यता के प्रथम पुरुष होआङ्-त्तो का जन्म कुमारी चिङ्-मोउ और गर्जन (ध्वनि) के संयोग से हुआ। इस संदर्भ में बाइबिल की ये उक्तियाँ भी विचारणीय हैं—“सबसे पहले शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था, और शब्द ईश्वर था;” “और शब्द शरीरधारी (ज्येसू) हो गया।” फ्रायड और उसके अनुयायियों द्वारा किये गये कार्य के आधार पर सर लॉरेन्स गोम की यह धारणा बहुत सार्थक प्रतीत होती है कि हमें लोककथाओं में आद्यन्त बर्बरता के दर्शन होते हैं।^३ कोई भी व्यक्ति, जो इनकी सामग्री के आवरण के नीचे भाँकने का प्रयास करता है, उसमें प्रच्छन्न असंस्कृत और अवैध आकांक्षाओं से हतप्रभ हुए बिना नहीं रह सकता।

किन्तु युंग फ्रायड और उसके अनुयायियों द्वारा किये गये मिथ की सामग्री के उपर्युक्त विश्लेषण से सहमत नहीं हैं। वह मिथ की व्याख्या सामूहिक अवचेतन के सिद्धान्त के आधार पर करता है। उसके अनुसार स्वप्न और मिथ के प्रतीक सामूहिक अवचेतन के आद्यरूपीय

(३) क्रोक्लोर ऐज ऐन हिस्टॉरिकल सायंस (१९० ; पृ० ८२)।

(आर्केटाइपल) बिम्बों की ओर संकेत करते हैं। धर्म और मिथ का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है और अपने प्रारम्भिक रूप में धर्म मिथ का ही व्यवस्थित रूप है। इस प्रकार मिथ मनुष्य की सामाजिक और वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। युंग ने आदम और हौआ की कथा की फ्रायडियन व्याख्या को अस्वीकार किया है। वह यौन भावना के उदय का प्रतीकात्मक विवरण न होकर सचेतनता या बौद्धिकता के भार के प्रति मनुष्य के आतंक की अभिव्यक्ति है।

युंग यह स्वीकार करता है कि किसी विशेष आद्यरूपीय बिम्ब के आधार पर सभी मिथों की व्याख्या नहीं की जा सकती। आद्यरूपीय विषयवस्तु सामूहिक अवचेतन में सक्रिय प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है; “अतएव वह किसी वस्तु का निर्देश नहीं करती जो चेतन है या रही है, बल्कि जो मूलतः अवचेतन है। अन्तिम विश्लेषण में यह कहना असम्भव है कि वह किस वस्तु का संकेत करती है।” यह स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न नहीं उठता कि मिथ किसका संकेत करता है—वह सूर्य या चन्द्र का संकेतक है, अथवा माता, पिता, यौन-भावना, अग्नि या जल का। जो अधिक से अधिक सम्भव हैं, वह यही है कि हम उस के अर्थ के अवचेतन केन्द्र का स्पर्श करें और उसका ‘एक समीपवर्ती विवरण’ दें। फ्रायड की तरह अवचेतन की विषयवस्तु के पुनर्निर्माण की चेष्टा व्यर्थ है। हर युग अतीत से वर्तमान की सम्बन्ध-स्थापना के लिए मिथिक आद्यरूपों की नवीन व्याख्या करता है। यदि हम ऐसा नहीं करें तो हमारी चेतना ‘आद्यरूपीय नीवों से विच्छिन्न’ हो जायेगी—हम मूलहीन चेतना से युक्त हो जायेंगे। युंग ने कुछ आद्यरूपीय रूढ़ियाँ स्वीकार की हैं। जो स्वप्न, मिथ, लोककथा और कविता में बार-बार आवृत्त होती हैं; जैसे—छाया, गुफा, बुद्धिमान वृद्ध, बालक, माता आदि। मिस बॉडकिन ने ऐसे बिम्बों का अध्ययन प्राचीन और नवीन कविता के संदर्भ में किया है और उसमें इनकी आवर्तक स्थिति सिद्ध की है।

फ्रायड और युंग की मिथ-सम्बन्धी व्याख्या का भेद दोनों की अवचेतन-सम्बन्धी मान्यता के बृहत्तर भेद का अंग है। युंग अवचेतन को बर्बर और अंध नहीं मानता, बल्कि वह कहता है कि यह किन्हीं स्थितियों में चेतन मन से कहीं अधिक प्रबुद्ध, सोद्देश्य और अन्तर्दृष्टि-युक्त है। इसके अभिव्यक्त रूप स्वप्न और मिथ न केवल विरेचक हैं, वरन् आत्मज्ञान देने में सक्षम भी। वह फ्रायड की इस स्थापना का भी खण्डन करता है कि स्वप्न का व्यक्त रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है और उसका अभिप्राय उस व्यक्त रूप के पीछे प्रच्छन्न है। सच तो यह है कि ऐसा कह कर हम अपनी असमर्थता ही प्रमाणित करते हैं। स्वप्न एक वैसी पुस्तक है जो हमें इस-लिए दुर्बोध प्रतीत होती है कि हम उसे ठीक-ठीक नहीं पढ़ पाते। (मार्डन मैन इन सर्च ऑव ए सोल १९३३ : १५) यह सही है कि युंग द्वारा की गयी अवचेतन की व्याख्या ने मिथ के स्वरूप पर पुनर्विचार सम्भव बनाया है और मिथ के संदर्भ में कविता के प्रति नवीन दृष्टि-कोण का प्रवर्तन किया है; किन्तु वह फ्रायड की तरह प्रायोगिक धरातल पर अपनी मान्यताओं की असंदिग्धता प्रमाणित नहीं कर सका है।

श्रीमती लेंगर ने अपनी ‘फ़िलॉसॉफी इन ए न्यू की’ में मिथ की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने मिथ का सम्बन्ध प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के साथ जोड़ा है। जहाँ अन्य पशु चिह्नों का उपयोग करते हैं, वहाँ मनुष्य प्रतीकों का। मनोवैज्ञानिक पहले यह विश्वास

करते थे कि मस्तिष्क का कार्य संवेदनाओं का 'अभिलेखन और संयोजन' मात्र है; किन्तु नवीन अनुसंधानों ने यह संकेत उपस्थित किया है कि आधारभूत मानसिक प्रक्रिया प्रतीकीकरण है। मनुष्य बाह्य जगत् से प्राप्त संवेदनाओं को अपने मानस में रूपान्तरित करता है और उन्हें प्रतीकों का रूप देता है। उसकी चिंतन प्रक्रिया के दो रूप हैं—भाषिक और अभाषिक। भाषिक चिंतन भाषा से प्रारम्भ होता है और उसी में समाप्त भी। उसकी अभिव्यक्ति मिथ और कविता होती है। अभाषिक चिन्तन कर्मकाण्ड और दृश्य कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होता है। श्रीमती लैंगर यह तो स्वीकार करती हैं कि मिथ और सामान्य लोक कहानी की सामग्री में समानता है, किन्तु ये इन दोनों में उसके उपयोग की भिन्नता पर बल देती हैं। सामान्य लोक कहानी (परीकथा) का स्वरूप आत्मनिष्ठ होता है और वह दमित इच्छाओं की काल्पनिक परि-तृप्ति तथा वास्तविक जीवन की न्यूनताओं की काल्पनिक पूर्ति का परिणाम है। उसका द्वन्द्व व्यक्ति और वातावरण का है; अतएव उसका नायक (अहं) जिन दैत्यों का वध करता है, वे उसके अग्रज, पिता या प्रतिद्वन्द्वी हैं। किन्तु मिथ का स्वरूप निर्व्यक्तिक और सामाजिक है। उसके नायक व्यक्ति न होकर सम्पूर्ण समाज या कबीला हैं और उनके कृत्य प्राकृतिक शक्तियों पर सामाजिक शक्तियों की विजय के प्रतीक हैं। मिथ में 'न केवल समाज के साथ व्यक्ति के वरन् प्रकृति के साथ मनुष्य जाति के सम्बन्ध' 'काव्यात्मक फ्रैण्टेसी के माध्यम से संकल्पित' होते हैं। वे आदिम मनुष्य के सम्बन्ध में प्रचलित इस धारणा का खण्डन करती हैं कि वह शेष जगत् और अपने बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींच पाता और अचेतन पदार्थों का मानवीकरण करता है। इसके विपरीत, उनकी धारणा यह है कि वह मानव का प्रकृति-करण करता है। हिना सम्बन्धी पोलिनेशियन कथाओं के विश्लेषण के बाद वे यह कहती हैं कि हिना के रूप में 'चन्द्रमा का मानवीकरण नहीं; वरन् हिना का चन्द्रीकरण' (पृ० १५७) हुआ है। यह प्रकृतिकरण मानवीय पात्रों को विराटता प्रदान करता है और उनके कृत्यों को सार्वभौम अर्थवत्ता से युक्त कर देता है।

श्रीमती लैंगर मिथ को आदिम दर्शन का महत्त्व देती हैं। "यह तत्त्वमूलक चिन्तन की आदिम स्थिति, सामान्य धारणाओं का प्रथम मूर्तरूप है।" (पृ० १६३) यह तत्त्वशास्त्र का पूर्व रूप है। अनुभव के विश्लेषण के पहले अनुभव और धारणा की आवश्यकता है, और जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में सामान्य धारणाएँ मिथ के रूप में व्यक्त होती हैं। इसी पुस्तक में वे अन्यत्र यह कहती हैं कि "मिथ मानवीय अस्तित्व का नाटक है। इसका अन्तिम लक्ष्य जगत् का काल्पनिक निरूपण नहीं, बल्कि उसके मूलभूत सत्यों का गम्भीर परिदर्शन है।" (पृ० १४३) यह रूपाकात्मक जगत्-चित्र और जीवन का अन्तर्दर्शन है।

मिथ की मनोवैज्ञानिक और विकासवादी मानववैज्ञानिक व्याख्या से भिन्न व्याख्या उन प्रकायवादी मानववैज्ञानिकों की है जिनका प्रतिनिधित्व मलिनोवस्की करता है। उसने आदिम संस्कृति में प्रचलित मिथों के स्वरूप और उपयोग के प्रत्यक्ष अध्ययन और विश्लेषण के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे फ्रेंजर भाषणमाला के अन्तर्गत दिये गये उसके भाषण 'मिथ इन प्रीमिटिव साइकॉलाजी' में व्यक्त हैं।

मलिनोवस्की के अनुसार, मिथ के पुस्तकीय रूप के आधार पर उसके स्वरूप का ज्ञान क ख ग—१५

दुष्कर है। प्राचीन काल के मिथ मूल-जीवन-विश्वास और सामाजिक व्यवस्था से विच्छिन्न रूप में ही आज प्राप्त हैं। पंडितों और लिपिकारों ने उन्हें बहुत दूर तक परिवर्तित कर दिया है। अतएव मिथ के रहस्य का उद्घाटन तभी सम्भव है जब जीवित आदिम संदर्भ में उसका अध्ययन किया जाय। श्रेष्ठ विद्वानों ने मिथ को प्रतीकात्मक माना है। और ऐण्ड्रू लैंग ने उसे एक प्रकार का आदिम विज्ञान बना दिया है; किन्तु अपने जीवित संदर्भ में अधीत होने पर वह 'प्रतीकात्मक नहीं, वरन् अपनी विषय-वस्तु की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है, वह किसी वैज्ञानिक अभिरुचि के तोष के लिए की गयी व्याख्या नहीं, वरन् गम्भीर धार्मिक आवश्यकताओं, नैतिक आकांक्षाओं, सामाजिक स्वीकृतियों, घोषणाओं, यहाँ तक कि व्यावहारिक आवश्यकताओं के तोष के लिए कहा गया, आदिम वास्तविकता का कथात्मक पुनर्जन्म है।' (पृ० ७३) वह आदिम संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। वह विश्वास, नैतिकता, कर्मकाण्ड और सामाजिक व्यवहार का संरक्षण, कार्यान्वयन और समर्थन करता है। इसके लिए वह उन विश्वासों, रीतियों और विधिविधानों को सुदूर अतीत में प्रतिष्ठित कर और अति अलौकिक वास्तविकता से सम्बन्धित कर उन्हें पुराकालीन, पवित्र और मानवोत्तर सिद्ध करता है। इसका अभिप्राय उन्हें अनुल्लंघ्य बना कर स्थायित्व प्रदान करना है। मिथ का लक्ष्य, इस प्रकार, वर्तमान जीवन की वास्तविकता को 'ऐन्द्रजालिक विश्वास' और निरपवाद सामाजिक व्यवहार्यता से युक्त कर देना है। उसे कलात्मक त्रिविध या बौद्धिक व्याख्या मात्र समझना उसके स्वरूप से अपरिचय प्रकट करना है। मलिनोवस्की ने विकासवादी मानववैज्ञानिकों की इस मान्यता का भी खण्डन किया है कि वैज्ञानिक युग में मिथ की मृत्यु हो जाती है। सामाजिक व्यवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित रहने के कारण मिथ सदैव पुनर्जीवित होता है, प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तन अपने मिथ की रचना करता है।

मलिनोवस्की के मिथ-सम्बन्धी विचारों ने इस विषय के चिन्तकों को गम्भीर रूप में प्रभावित किया है। फ्रांज बोअज़, ई० ओ० जेम्स आदि परवर्ती मानववैज्ञानिकों ने उसके निष्कर्षों का समर्थन किया है। ई० ओ० जेम्स ने, मलिनोवस्की की तरह ही, यह कहा है कि मिथ न तो घटनाओं और व्यापारों की व्याख्या के लिए आविष्कृत कथा है, न रूपकात्मक दर्शन, न अतिरंजित इतिहास और न दिवास्वप्न जिसकी व्याख्या मनोविश्लेषण के प्रतीकों द्वारा की जाय। "इन सबों में मिथ के तत्त्व हो सकते हैं और उसकी प्रकृति और व्यावहारिक उपयोगिता पर प्रकाश डाल सकते हैं, किन्तु स्वयं मिथ फ्रैंटेसी, कविता, रोमांस, दर्शन, धर्मशास्त्र या मनोविज्ञान नहीं है, यद्यपि अपने वैविध्यपूर्ण शाखा विस्तारों और बाहरी योगों में, विकास और विकृतियों में, वह प्रायः इन समस्त तत्त्वों और विधाओं से सम्बन्धित हो गया है^४।" मिथ का उद्देश्य प्रचलित जीवन-प्रणाली का समर्थन और संरक्षण है^५। वह 'क्या' (जिज्ञासा या तर्कबुद्धि) की अपेक्षा 'कैसे' (व्यवहार) पर बल देता है। और समाज में एकता की भावना उत्पन्न करता है। मिथ पर समाजविज्ञान की दृष्टि से विचार करने वाले किम्बॉल यंग ने भी सामाजिक आचरण के निर्णायक के रूप में उसे स्वीकार किया है और यह कहा है कि जब

४. द नेचर एण्ड फ्रंक्शन ऑव मिथ : फ़ोकलोर : दिसम्बर, १९५७ : पृ० ४७५।

५. वही : पृ० ४८२।

तक वास्तविकता और मानवीय बुद्धि के बीच अन्तराल कायम है, तब तक मिथ भी जीवित रहेगा।

यदि मिथ की व्याख्या करने वाले समकालीन सम्प्रदायों पर विचार किया जाय तो उनके दो वर्ग स्थापित किये जा सकते हैं—समाजवैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक। समाजवैज्ञानिक मिथ को सामाजिक आवश्यकताओं से उत्पन्न मानते हैं और मनोवैज्ञानिक उसे मानव मन की आन्तरिक आवश्यकताओं से। उदाहरणार्थ, श्रीमती लैंगर यह तो स्वीकार करती हैं कि उसका विकास मानवीय आवश्यकता के अनुसार होता है, लेकिन उनकी दृष्टि में वह आवश्यकता मनोवैज्ञानिक है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि वे कर्मकाण्ड या विधिविधान को, मानव वैज्ञानिकों की तरह, सामाजिक एकता या अन्य किसी व्यावहारिक उद्देश्य से प्रेरित नहीं मानती। “यह (सामाजिक) एकता उसके परिणामों में से एक हो सकती है,....लेकिन न तो मिथ और न कर्मकाण्ड का मूलतः इस उद्देश्य से विकास हुआ।” (फ़िलॉसॉफी इन एन्यू की : पृ० ३६) इसी प्रकार अर्नेस्ट जोन्स यह कहते हैं कि लोकवार्ता कल्पना की कृति है और “बाहरी प्रभाव कल्पना के कार्य के द्वारा गृहीत रूप को प्रभावित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते।” (एसेज इन एप्लायड साइकोएनेलिसिस : पृ० ६) सामाजिक प्रेरणाएँ मनोवेगों की तुलना में गौण महत्त्व रखती हैं और मिथ का जन्म अवचेतन अभिरुचियों तथा मनोवेगों से होता है। लेकिन समाज वैज्ञानिकों की मूल प्रस्तावना ठीक इसके विपरीत है—मिथ की प्रेरणा सामाजिक है और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग की कसौटी पर ही उसकी वास्तविक परीक्षा सम्भव है।

जहाँ तक मिथ के मूल प्रयोजन का सम्बन्ध है, यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं कि मलिनोवस्की ने उस पर प्रामाणिक रूप में विचार किया है। किन्तु संस्कृति के विकास के साथ वह धर्म का भी अंग बना है और उसमें व्याख्यात्मक तत्त्वों का भी समावेश हुआ है। उसमें, विलक्षण रूप में, ऐतिहासिक सामग्री ने भी प्रवेश पाया है; क्योंकि अनेक कथाएँ व्याख्या-भेद से मिथ और आख्यान, दोनों हो जाती हैं। यदि राम-रावण युद्ध को वास्तविक घटना माना जाय तो वह आख्यान है और यदि इन्द्र वृत्र युद्ध का रूपान्तर, तो वह मिथ।^६ इसी प्रकार, यदि यह सत्य है कि स्वप्न और मिथ के प्रतीक अवचेतन से सम्बन्ध रखते हैं तो मिथ की प्रतीकात्मकता का निषेध करना कठिन है। वस्तुतः पूरे प्रश्न पर एक और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक तो दूसरी ओर ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है।

६. वृत्र (मेघ) उषा का हरण करता है और इन्द्र (विद्युत्), अग्नि की सहायता से, वृत्र का वध कर उषा का उद्धार करते हैं। इसी तरह, रावण सीता का हरण करता है और राम, लक्ष्मण की सहायता से, उसका वध कर सीता को मुक्त करते हैं। नाग या दैत्य के बन्धन में पड़ी हुई सुन्दरी और दो मित्रों द्वारा उसके उद्धार की रूढ़ि आज भी भारतीय लोककथाओं में प्रचलित है।

परमाणु, संस्कृति और टॉयनबी

रमेशचन्द्र शाह

टॉयनबी ने अपने इतिहास-दर्शन की व्याख्या करते हुए एक वैज्ञानिक—अत्याधुनिक रूपक का आश्रय लिया है। उसके अनुसार विश्व की प्रत्येक संस्कृति अपनी संरचना में परमाणविक होती है। इस अवधारणा से जो निष्कर्ष निकलते हैं या दूसरे शब्दों में, विश्व-इतिहास के सुदीर्घ मन्थन-विश्लेषण से उत्पन्न जिस तर्क-परम्परा से यह रूपकात्मक अवधारणा टॉयनबी के दिमाग में बनी है, उसको समझने के लिए सर्वप्रथम इस रूपक के ही रूप को स्पष्ट कर लेना उचित होगा।

तत्त्व अपने अन्तिम विश्लेषण में—अपनी चरम आन्तरिकता में केवल परमाणु है। उसकी तात्त्विकता, उसका सत्य परमाणविक है। प्रत्येक परमाणु अपनी सूक्ष्म संरचना में एक विराट सौरमण्डल का प्रतिरूप-प्रतिबिम्ब है।

पर क्या तत्त्व को अपनी इस परमाणविक सत्ता की अनुभूति होती है ?....कहा जा सकता है कि तत्त्व जड़ है और परमाणु उसकी चेतना। और तत्त्व आत्मचेता नहीं होता : यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी तत्त्व सामान्यतः परमाणविक अवस्था में कायम नहीं रह सकता—भले ही परमाणविक रूप में ही वह रासायनिक प्रक्रिया में भाग ले सकता है। विरल संयोग से कभी परमाणविक रूप उभरता है तो उसकी सक्रियता सौ गुनी बढ़ जाती है। पर वह क्षण अत्यन्त विरल और अत्यन्त संचिप्त हुआ करता है। दो या दो से अधिक तत्त्व जब अत्युच्च तापमान और दबाव पर परस्पर संयुक्त होकर यौगिक बनाते हैं तो उस यौगिक में न तो पहले तत्त्व के गुण होते हैं, न दूसरे के, वह एक तीसरी ही चीज़ होती है जो अपने अन्तिम विश्लेषण में एक अणु है—विजातीय परमाणुओं के योग से बना अणु। ये परमाणु अब भी अपने प्राक्-स्वरूप से विच्छिन्न नहीं हैं किन्तु अब उन्होंने अपनी इकाई को एक बृहत्तर इकाई में संयोजित कर लिया है और रासायनिक प्रक्रिया के दबाव में वे अपने पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व भुला सके हैं।

और परमाणु स्वयं में क्या है ? वह जड़ता और गति का एक सूक्ष्म सन्तुलन है—एक केन्द्र के चारों ओर गति की अनेक परिधियों के पारस्परिक आकर्षणों की अनुशासित अभिव्यक्ति। वह स्वतन्त्रता और मर्यादा का संतुलन है।

इतिहासकार टॉयनबी का कहना है कि प्रत्येक संस्कृति अपनी संरचना में परमाणविक होती है। और जिस तरह प्रत्येक परमाणु अपनी संरचना को कायम रखना चाहता है—विजातीय तत्त्व-रचनाओं के आक्रमणों से स्वयं को विघटित होने से बचाने को तत्पर रहता है, उसी

प्रकार एक संस्कृति दूसरी विजातीय संस्कृति के प्रभाव से अपनी आत्म-रक्षा करना चाहती है। परमाणु तभी तक परमाणु है जब तक उसकी आन्तरिक परिधियों पर गतिशील विद्युत्कण दूसरे परमाणु की परिधियों पर गतिशील विद्युत्कणों से नहीं टकराते। टॉयनबी की स्थापना यह है कि जब कोई संस्कृति दूसरी विजातीय संस्कृति के मात्र एक अंश को (चाहे वह कितना ही बाहरी-गौण क्यों न हो) उसकी पूरी संरचना से अलग करके अपने भीतर प्रविष्ट होने देती है, तब वह विघटन का खतरा मोल ले लेती है क्योंकि उस विजातीय अंश के लिए यह नितांत असम्भव है कि वह इस नई संरचना में उस तरह आत्मसात् हो जाय जिस तरह कि वह अपनी मूल संरचना में था। और चूँकि वह इस नई संरचना का अंग नहीं बन सकता, इसलिए वह अपनी पुरानी सहज स्थिति को पाने के लिए इस नई संरचना के अवयवों का संतुलन बिगाड़ कर उन्हें अपने मुताबिक मोड़ने की कोशिश करेगा और इस प्रक्रिया में जो तनाव जो ऐंठन पैदा होगी, वह धीरे-धीरे भीतर की ओर फैलते-फैलते कालान्तर में केन्द्र को भी प्रभावित कर देगी और तब विघटन की अराजकता चरम सीमा पर जा पहुँचेगी।

एक इतिहासकार की दृष्टि से—इतिहास की प्रक्रिया को समझने-समझाने के लिए—टॉयनबी का यह सिद्धान्त एक सीमा तक काफी उपयोगी जान पड़ता है। किन्तु गहराई में जाने पर—संस्कृति की सबसे आभ्यन्तरिक वास्तविकताओं से उलझने पर—यह सिद्धान्त हमारी मदद करना छोड़ देता है। हमें लगता है कि एक सीमा है जिसके परे इस रूपक को नहीं खींचा जा सकता। (अन्ततः वह एक इतिहासकार का रूपक है, कवि का नहीं)

सम्भ्यताएँ आन्तरिक कारणों से भी विघटित हो सकती हैं और नितान्त बाहरी कारणों से भी। यह भी तो नियम है कि जब कोई जीवधारी अपने चरम विकास को पा लेता है तो वह भी क्रमशः जीर्ण-शीर्ण होता-होता समाप्त हो जाता है। विकास की एक सीमा होती है : अमरता या अक्षुण्णता यों भी किसी सम्भ्यता का गुण नहीं (जैसे कि वह परमाणु का गुण है)। यह हो सकता है कि वह बिना अपने परिपाक तक पहुँचे, बीच में ही अकाल-काल कबलित हो जाय।

यह ठीक है कि हर संस्कृति अपनी प्रवृत्ति में केन्द्राभिमुखी होती है और यह भी सच है कि केन्द्र की रक्षा के लिए ही—या यों कहें कि केन्द्र की शक्ति में से ही परिधियाँ फूटती हैं। किन्तु एक बाहरी परिधि में अनिवार्य (या स्वेच्छित) परिवर्तन आने पर केन्द्र विघटित ही हो जाए—यह तो जरूरी नहीं है। ऐसा होता तो एक संस्कृति सम्भ्यता के रूप में पूरी तरह नष्ट हो चुकने पर भी संस्कृति के रूप में दूसरी (आक्रान्ता या विजातीय) सम्भ्यता-संस्कृति के भीतर आभ्यन्तरिक स्तरों पर सक्रिय क्यों देखी जाती ?

टॉयनबी के अनुसार संस्कृति की परमाणविक संरचना का केन्द्र (न्यूक्लियस) धर्म है। माना जा सकता है कि धर्म सबसे केन्द्रीय शक्ति बन सकता है और संस्कृति को सबसे ज्यादा स्थायित्व भी प्रदान कर सकता है। मगर यह भी एक तथ्य है कि विश्व के अनेक प्रमुख धर्मों में विस्तारवादी महत्वाकांक्षाएँ भी सक्रिय रही हैं और दूसरे धर्मों के प्रति कट्टर असहिष्णु भाव भी उनमें विद्यमान रहा है (आज भी है)। अब देखना यह है कि इस धर्म नाम की चीज़ का स्रोत कहाँ है ? और उस मूल स्रोत के अन्तर 'जातीय' 'विजातीय' की कल्पनाओं के लिए कितनी गुंजाइश रहती है।

धर्म का स्रोत जिस दीप्त मानव-चेतना में है या कि धर्म का प्रकाश अपने प्राकट्य के लिए जिस विशिष्ट चैतन्य को चुनता है, वह चेतना इस देश-काल की इस सभ्यता में जन्मे पले-पोसे व्यक्ति की थी, या उस देश-काल की उस सभ्यता में पले-पोसे व्यक्ति की ?....यह प्रश्न अपने आप में कितना सार्थक, कितना महत्वपूर्ण हो सकता है—यह स्वयं एक विचारणीय प्रश्न है। जहाँ तक स्मृति ग्रन्थों का सम्बन्ध है, उनके लिए सभ्यता और संस्कृति का वैसा विचार प्रासंगिक और मूलभूत भी हो सकता है। किन्तु क्या श्रुति—‘रिवील्ड रिलीजन’—‘पेरैनियल फ़िलासफी’—के लिए उस प्रकार की पार्थक्यमूलक दृष्टि सचमुच अपेक्षित है ? क्या वह वांछनीय है ? क्या वह यथार्थ दृष्टि भी होगी ?

सभ्यता मोटे तौर पर समाज से सम्बन्ध रखती है। सभ्यता भूगोल और इतिहास के नियमों से काफ़ी हद तक प्रभावित और निर्धारित होगी। यह समाज न तो अणु है, न परमाणु। वह तो अनेक तत्त्वों और यौगिकों का एक सम्मिश्रण है—या बहुत ही हो गया तो एक शरीर के रूप में उसकी परिकल्पना की जा सकती है। समाज अधिक से अधिक एक ‘शरीर’ हो सकता है। और समाज के श्रेष्ठतम अवयव, उसके उत्कृष्टतम व्यक्तित्व अलग-अलग अपने स्नायु-केन्द्रों से जो शक्ति विकीर्ण करते हैं, उसका नाम है संस्कृति। संस्कृति का स्रोत वहाँ है, जहाँ सबसे ज़्यादा चेतना है। यह चेतना आणविक भी हो सकती है और परमाणविक भी। मोटे तौर पर यों कहा जाय कि किसी समाज की लौकिक संस्कृति उसकी आणविक चेतना का प्रकाश है, और उसकी आध्यात्मिक (धार्मिक भी) चेतना उसकी परमाणविक आत्म-चेतना का। पश्चिम की दृष्टि सामान्यतया ‘धार्मिकता’ की जिस परिभाषा को स्वीकृति देती है उस प्रकार की धार्मिकता से अलग—निरपेक्ष भी—यह सर्वथा संभव है कि किसी लौकिक संस्कृति में प्रज्ञा का इस सीमा तक उत्कर्ष हो जाय कि वह इस परमाणविक—परमान्तरिक—अत्म चैतन्य को उपलब्ध कर ले जो उस तथाकथित लौकिक संस्कृति को भी आध्यात्मिक मूल्यों की जीवन्त कल्पना से भर दे। यूनान की संस्कृति ऐसी संस्कृति थी। चीन की संस्कृति भी किसी जमाने में ऐसी संस्कृति थी। कदाचित् वैदिक संस्कृति भी अपने प्रारम्भिक रूप में इसी प्रकार की रही होगी।

क्या हम औपनिषदिक, पौराणिक और क्लासिकल संस्कृतियों को वैदिक संस्कृति का विघटन मानेंगे ? या केवल अन्तर्भाव और विकास ?....यदि विघटन भी मानें, तो भी क्या इस ‘विघटन’ की व्याख्या टॉयनबी के रूपक से की जा सकेगी ?

यूनानी संस्कृति इतिहास की दृष्टि से नष्ट हो गई। रोम की भी, पर क्या उनके बिना—मात्र ईसा और न्यू (या ओल्ड भी) टेस्टामेण्ट के बल पर उस यूरोपियन संस्कृति और यूरोपियन परम्परा की चर्चा (कल्पना तक) संभव है जिसकी रक्षा का प्रश्न आज यूरोप के अनेक मूर्ख चिन्तकों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है ?....धर्म की दार्शनिकता पर तो बराबर बल दिया गया; धर्म की कलात्मकता के लिए भी बराबर गुंजाइश रखी गई (चर्च के कट्टर संगठनों तक में)। फिर कला की धार्मिकता और दर्शन की धार्मिकता का क्या कोई प्रयोजन नहीं ?

क्या संत टामस की प्रज्ञा में अरस्तू-प्लेटो, ईसा और सेण्ट ऑगस्टीन का यौगिक नहीं

बना ? क्या नियोप्लेटोनिज्म के अन्तर्गत यूनानी दर्शन और भारतीय धार्मिक परिकल्पनाओं का दूरागत संयोग नहीं हुआ ?

क्या ईसा से छः शताब्दी पूर्व यूनानी दार्शनिक पाइथागोरस ने पुनर्जन्म की कल्पना नहीं कर डाली थी ? जो कि मूलतः एक हिन्दू कल्पना है। पाइथागोरस हिन्दू-संस्कृति की उपज नहीं है। तब भूगोल, और इतिहास, सभ्यता और संस्कृति के दायरों से अलग दो व्यक्ति चेतनाओं में एक ही कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे हो गया ? क्या टॉयनबी का रूपक इसे समझा सकता है ? क्या यह तथ्य प्रकारान्तर से स्वयं उस रूपक का ही खगडन नहीं है।

विराट् की संरचना और परमाणु की संरचना परस्पर मिलती-जुलती है। जो परमाणु में है वही ब्रह्माण्ड में भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति जितना ही अपनी इस केन्द्रीय स्थिति की चेतना को अपने अन्दर गहरा पाता है—जितना ही वह अपनी इस विशिष्ट स्थिति की आत्म-चेतना से समुद्भूत चुनौतियों को झेलने के लिए सन्नद्ध हो पाता है, उतना ही संस्कारी वह है। और किसी जाति, अथवा राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति उसके इन्हीं आत्मचेता परमाणु-केन्द्रों की राशीभूत अभिव्यक्तियों का नाम है।

.....समुद्र और नदियाँ, सूर्य और सौरमंडल के ग्रह, प्राण और पंचप्राण....., प्राण का प्रमुख अधिष्ठान सूर्य और कोटि-कोटि प्राणियों में निहित कोटि-कोटि 'पंचप्राण'....., परमाणु का न्यूक्लियस और उसके चारों ओर चक्कर काटते विद्युत्कण....., कॉपरनिकस से पहले का टॉलेमी वाला—एक के भीतर एक संकेन्द्रित गोलकों का—ब्रह्माण्ड और उनका 'अनहद नाद' (म्यूज़िक आव द स्फ़ियर्स).....

ये सारे के सारे रूपक सभ्यता और संस्कृति के नहीं, बल्कि 'उस' चीज़ के हैं जो स्वयं सारी सभ्यता और संस्कृति मात्र का मूलस्रोत है—जिससे, और मात्र जिससे ही, सभ्यता और संस्कृति की सत्ता और सार्थकता है। जो कि मात्र यह या वह जड़ तत्त्व नहीं, प्रत्युत अनेक तत्त्वों का यौगिक है और जिसमें यह सामर्थ्य है कि अपनी आत्म चेतना को क्रमशः तीव्र करता चला जाय....अपनी सत्ता और वास्तविकता का अधिकाधिक आन्तरिक अन्वेषण करता चला जाय। यह वह चीज़ है जो अपने भीतर पंचभूतों का और उनके भीतर 'पंच-प्राण की अनभिन्न लौ' का साक्षात्कार करती है—जिसकी दुर्निवार जिज्ञासा इस आणविक चेतना तक पहुँच कर भी सन्तुष्ट नहीं होती; वरन् उसके भी आन्तर-रहस्य के उद्घाटन में तत्पर होकर इस पंचप्राण के भी केन्द्रीभूत सूर्यरूपी प्राण की—अर्थात् परमाणविक सत्ता की अनुभूति कर लेती है....और फिर उसके भी आगे जाकर उस चरम वास्तविकता का साक्षात् करना चाहती है जो इस परमाणविक लय-प्रलय के परे, उसका भी केन्द्र, उसका भी नियामक है।....आत्मा, इस दृष्टि से देखा जाय तो मानव-व्यक्ति की ही 'कृति' है। आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य भी उसी की सर्जनात्मक कल्पना का फल है।

श्रुति की पात्रता भी उसी को मिलती है। इतिहास-पुराण का मन्थन करके उनका मर्म भी वही पाता है। संस्कृति की राशीभूत अभिव्यक्ति भी किसी व्यक्ति के लिए तभी वास्तविक और यथार्थ बनती है, जब वह उसको नए सिरे से अपनी चेतना द्वारा अर्जित और पुनरुपलब्ध करता है। संस्कृति कोई शरीर या ज्ञानेन्द्रियों की तरह अपने आप में मिल जाने क ख ग—१५

वाली चीज नहीं है; किसी एक खास परम्परा में जन्म लेने का मतलब यह कदापि नहीं है कि वह परंपरा—उसका श्रेष्ठतम दाय अपने आप जन्म लेने वाले को मिल जायगा। वह तो केन्द्र की चीज है, केन्द्र में से ही निःसृत हुई थी और इसीलिए विशिष्ट, केन्द्राभिमुख व्यक्ति चेतनाएँ ही अपने भीतर की दुर्निवार माँग में से उसे कठिन परिश्रम द्वारा आत्मसात् करने को प्रवृत्त होती हैं जैसे कि प्रज्ज्वलित अग्नि से वही चीज स्वयं को सुलगा सकती है जो स्वयं भी ज्वलनशील हो। परमाणविक रचना को परमाणविक सक्रियता से सम्पन्न सर्जनशील चेतना ही अपना बना सकती है।

अतएव संस्कृति का केन्द्र भी सर्जनशील व्यक्ति-चेतना ही है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता से प्रेरित होकर—अपने 'व्यक्तित्व' को सही-सही और पूरा-पूरा प्राप्त करने के लिए—अपनी आन्तरिकता के पूर्ण प्रस्फुटन के लिए ही—अपनी परम्परा और संस्कृति को अपने अध्यवसाय के बल पर अर्जित—अर्थात् पुनःसृजित—करता है। इस प्रयत्न द्वारा ही वह स्वयं को उसके केन्द्र में प्रतिष्ठित करता है।....किन्तु यह कतई आवश्यक नहीं कि केवल मात्र उसकी अपनी तद्देशीय संस्कृति-परम्परा ही उसके संस्कारशील, सर्जनात्मक व्यक्तित्व को परितुष्ट कर सके। क्या यह संभव (और सर्वथा वांछनीय भी) नहीं कि वह अपने देश की संस्कृति के अलावा अन्य संस्कृतियों और अन्य परम्पराओं को भी अपने लिए उतना ही मूलभूत, उतना ही अनिवार्य महत्त्व देने के लिए प्रस्तुत हो? अन्ततः संस्कृति मात्र उदार और ग्रहणशील होती है। वह महज आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति से परिचालित होने को बाध्य नहीं है : आत्म विकास, निरन्तर सर्जनशीलता भी उसके स्वभाव की उतनी ही मौलिक आवश्यकता है। कोई भी संस्कृति संकीर्ण अर्थ में विशुद्ध नहीं रह सकती। उसमें इतर संस्कृतियों के सक्रिय प्रभावों के संघटन-समायोजन की प्रक्रिया चलती रहती है (व्यक्ति और समूह दोनों स्तरों पर)।

हर संस्कृति एक सीमा तक उदार होती है। और व्यक्ति की चेतना अपनी संस्कृति में निहित उदारता की उस सीमा तक ही सीमित रह जाए—यह भी जरूरी नहीं है। वह उसका भी अतिक्रमण कर सकती है; करती ही है। इस सीमा से आगे भी उदारता की एक कोटि होती है जहाँ तद्देशीय जातीय-सांस्कृतिक तत्त्व ही व्यक्ति की आन्तरिकता में अच्छी तरह संदर्भित हो चुकने पर उससे आगे....और आगे की माँग करने लगते हैं। विश्वजनीनता कोई अमूर्त धारणामात्र नहीं है। यह मनुष्य के रचनात्मक व्यक्ति-चेतना के विकास की सहज, स्वाभाविक दिशा भी तो हो सकती है। ऐसे 'उदार' व्यक्ति प्रत्येक युग में हुए हैं और वे निश्चित रूप से विश्व-संस्कृति को समूचे में आगे बढ़ाते और गहराते हैं। महान् संत, मनीषी, कवि और कलाकार अपनी-अपनी देशिक परंपरा में सर्वथा सहज अनुस्यूत होकर भी पूरे विश्व के सन्दर्भ में अपनी व्यक्ति-प्रतिभा को सायुज्य-लाभ कराते हैं। उनकी परमाणविक चेतना अपनी परिधि में केवल मात्र एक देश या जाति की संस्कृति को ही नहीं, अपितु विश्व की अन्यान्य जातियों की सांस्कृतिक-परम्पराओं में निहित उत्कृष्टतम को भी सहज भाव से समेटती है। धार्मिक प्रतिभा अपने चरम प्रस्फुटन में सार्वजनीन और सार्वभौम होती है। उसकी एक परिधि राष्ट्र और जाति भी निश्चित रूप से होती है, पर उसके बाहर, उससे

संकेन्द्रिक व्यापकतर परिधियों तक भी उसकी सहजगति होती ही है। ऐसा होना उसकी धार्मिकता का आवश्यक अंग है—बल्कि ऐसा होना ही उसके धार्मिक होने की पूर्वप्रतिज्ञा है।

.....नहीं !....संस्कृति नहीं, बल्कि संस्कृतिशील, सर्जनधर्मा व्यक्ति स्वयं परमाणविक होता है। जितनी ही सूक्ष्म उसकी आत्म चेतना होती है, उतनी ही व्यापक उसकी संवेदना होती है। जितनी ही उसकी चेतना परमाणविक ऊर्जा से सम्पन्न होती है, उतनी ही वह ब्रह्माण्डीय भी हो पाती है। कहना न होगा कि यह परमाणविक आत्म-चेतना 'व्यक्तित्व की खोज' नहीं है। बल्कि उसके आगे की प्रक्रिया है।

वस्तुतः इतिहास को देखने-समझने की गहरी से गहरी चेष्टा, बड़ी-से-बड़ी तर्क-रचना भी अपर्याप्त है, जब तक वह मानव-व्यक्ति की देश-काल-अतिक्रामी, इतिहास-निरपेक्ष सर्जनात्मक संभावनाओं तथा अद्वितीय औदार्य-क्षमता को एक मूलभूत तथ्य के रूप में स्वीकार करके नहीं चलती। वह दृष्टि सचमुच भ्रामक है जिसका कोई केन्द्र न हो। मगर साथ ही वह दृष्टि भी एकांगी और असंतोषजनक है जिसने अपना एक केन्द्र तो बना लिया हो, किन्तु परिधि पूर्व-निर्धारित करती हो। वस्तुतः वही केन्द्र वास्तविक, सच्चा केन्द्र है जो मानव-चेतना की समग्र अखण्ड वास्तविकता के प्रति प्रतिश्रुत होने के कारण उसकी समस्त संभावनाओं को—समस्त सामान्य परिधियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके और उन्हें न केवल अपनी अपेक्षा में, बल्कि परस्पर भी एक अखण्ड समकेन्द्रिक गति और स्वतन्त्रता प्रदान कर सके।

निश्चय ही, व्यक्ति-चेतना बिना अपने तद्देशीय सांस्कृतिक पारम्परिक सन्दर्भ को अर्जित किए, सम्पूर्ण तो क्या, वास्तविक भी नहीं हो सकती : वह सन्दर्भ भाषा, संस्कृति और धर्म का अनिवार्य रूप से होगा ही। किन्तु हमें इस सन्दर्भ से खिंची हुई परिधि को ही आत्यन्तिक महत्त्व देने का दुराग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि यह हमारे समूचे मनुष्यत्व की माँगों के साथ न्याय नहीं होगा। हमें वयस्क मानव-चेतना की माँगों को, एक मानव-शिशु के दृष्टिकोण से भी देखना होगा। शिशु किसी इस या उस परंपरा का केन्द्र नहीं होता; वह कुल मानवता—मनुष्यमात्र है—अपने 'ऐसेन्स' में। इसी तरह नृतत्व शास्त्रीय कल्पना भी हमें इस सम्बन्ध में सही परिप्रेक्ष्य पाने-उभारने में मदद कर सकती है।

चाहे आप यह मान कर चलें कि मनुष्य आज जो कुछ भी बन पाया है—वह केवल मात्र अपनी भौगोलिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज—महज विकासवाद की परिणति—हैं; चाहे आप इसके विपरीत धार्मिक दृष्टि के आधार पर यह मानें कि मानव पूरा का पूरा नीचे 'अमीबा' से ही विकास करते ऊपर नहीं आया है, बल्कि उसमें कुछ ऐसा भी है जो ऊपर से आया है, (अर्थात् वह जीव ही नहीं, जीवात्मा—परमात्मा का अंश भी है) चाहे आप इस तर्क-प्रणाली से चलें, चाहे उस तर्क प्रणाली से, दोनों ही आधारों पर विचार करने से उक्त ऐतिहासिक दृष्टि की अपर्याप्तता प्रमाणित हो जाती है। कोई भी संस्कृति मात्र इसलिए संस्कृति नहीं बन जाती कि वह सुरक्षा में पनपी थी और आत्म-रक्षा के लिए सचेष्ट थी। यह उसका सिर्फ एक पहलू है। दूसरा पहलू इससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। कोई संस्कृति इसीलिए संस्कृति बन पाती है कि वह खुली (भी) थी और उसके भीतर व्यापक और समग्र चेतनाएँ भी सक्रिय थीं।

असल जरूरत इस बात को है कि हमारी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु मानव-चेतना का वह अंश हो जो आज तक 'कण्डीशण्ड' नहीं किया जा सका (अर्थात् जो आज तक इतिहास में 'कण्डीशन' किए जाने के प्रति विद्रोह करता आ रहा है), जो मानव का सबसे 'मानवीय' अंश है जिसमें निहित लचीलेपन की अच्युतता के कारण ही उसमें से उत्कृष्टतम सर्जना सम्भव होती रही है—कला, साहित्य, दर्शन, धर्म-अध्यात्म सभी क्षेत्रों में। तमाम ऐतिहासिक उथल-पुथलों के बावजूद। इतिहास के भीतर भी इतिहास से परे जा सकने की क्षमता जिसका मौलिक गुण है। यह अंश क्या है? यह व्यक्ति-चेतना का वह परमाणविक ऊर्जा स्रोत है जिसकी विशिष्टता और परिभाषा उसकी निरपेक्ष, निस्संग सर्जनशीलता ही है। यह वह केन्द्र है जहाँ से 'महाकरुणा' का दर्शन और 'तथागत' की कल्पना संभव हुए थे। यह वह केन्द्र है जहाँ संत फ्रांसिस और एकनाथ दोनों को अवस्थिति थी। यहीं बैठ कर शेक्सपीयर ने 'हैमलेट' से लगाकर 'टैम्पेस्ट' तक की यात्रा की थी और गान्धी—हाँ, टॉयनबी के आदर्श गान्धी—ने लंकाशायर के कपड़े का बहिष्कार करके लंकाशायर के ही बेकार मिल-मजदूरों की कृतज्ञ श्रद्धांजलि भी पाई थी। इसी केन्द्र से वह पूरा परिप्रेक्ष्य उजागर होता है जहाँ कालिदास के "सगिय यदि जीवितापहा हृदये किञ्चिहिता न हन्ति माम्" की विह्वल करुणा और 'किंग लियर' के "ऐज फ्लाइज टु बैस्टन बॉर्डर, सो आर वी टु द गौड्स" की सन्नस्त, सिनिकल चीख को एक साथ सही-सही और पूरा-पूरा सुना जा सकता है।

यही वह जगह है जहाँ बैठ कर हम "वाच्यस्त्वया मद्रचनात्स राजा...." वाले सीता के उस प्रश्नहीन प्रश्न को और ओफ़ीलिया के पागल प्रलाप को अपनी संवेदना में सही-सही संदर्भित कर पाते हैं; यहीं पर हम उस निःस्तब्धता का अनुभव करते हैं जो 'समुद्ररश्ना वसुन्धरा' के सीता को गोद में लेकर अन्तर्धान हो जाने के बाद राम के मन में और "द रैस्ट इज साइलेंस" कह कर प्राणत्याग करते हुए हैमलेट के समीप बैठे होरेशियों के भीतर छा गई होगी।

और जब हम ग्रीक नाटककार यूरिपिडीज को 'काउण्ट नो मैन हैप्पी टिल ही डाइज' कहते हुए सुनते हैं तब भी हमारे इस अंश को कालिदास के अज का स्मरण हो आता है :

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः"

भावना की इस 'क्वालिटी' में—यूरिपिडीज के उद्गार में, तथा इसी उद्गार के समानांतर वशिष्ठ के इस (नितान्त भारतीय) आश्वासन के सम्मुख अज की असान्वनीय वेदना के भीतर क्या कवि की परम्परा भर बोलती है? और भी कुछ नहीं बोलता? क्या एक नितान्त मानवीय स्थिति के रूप में अज की वेदना यूरिपिडीज के लिए कालिदास की अपेक्षा कम संवेद्य, कम मानवीय हो सकती थी?

स्पष्ट ही कला का एक आयाम—और सर्वाधिक आन्तरिक, सर्वाधिक सर्जनात्मक आयाम—वह भी होता है जहाँ 'भारतीय', 'यूनानी', 'जर्मन' या 'फ्रांसीसी' जैसे शब्द अपने आप में आत्यन्तिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकते। उनकी उपयोगिता केवल एक अखण्ड मानव-चेतना, अखण्ड विश्व-वेदना के परिप्रेक्ष्य में ही सही-सही सन्दर्भ और परिभाषा ग्रहण कर सकती है।

अन्त में यहाँ पर सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी कवि जॉन डन की एक कविता में से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा :—

....“इन दिस वन थिंग, ऑल द डिसिप्लिन
 आव मैनर्स एण्ड आव मैनुहुड इज कण्टेण्ड;
 ए मैन टु ज्वाइन हिमसेल्फ विद य यूनिवर्स
 इन हिज मेन स्वे, एण्ड मेक इन ऑल थिंगज फिट
 वन विद दैट ‘आल’ एण्ड गों ऑन राउण्ड एज इट
 नॉट प्लकिंग फ्रॉम द होल हिज रैचेड पार्ट
 ऐण्ड इन्टू स्ट्रेट्स, ऑर इन्टू नॉट रिवर्ट
 विंशिग द कम्पलीट यूनिवर्स माइट बी
 सब्जेक्ट टु सच ए रैग आव इट ऐज ही....”

मेरा ख्याल है कि इस चर्चा का उपयुक्त समापन यही है : पुनश्च के रूप में इतना और जोड़ा जा सकता है कि उक्त पंक्तियों का मर्म ग्रहण करने के बाद जो पाठक उन की पूरी कविता को पढ़ जाने का उत्साह रखते हैं, वे इतना और करें कि अज्ञेय की “कहा सागर ने चुप रहो” शीर्षक कविता को भी डन के साथ-साथ एक बार और पढ़ जायँ....।

— — —

भारतीय प्रजातंत्र : नये मोड़ पर

योगेश अटल

चौथे आम चुनावों के बाद भारतीय राजनीति एक नये मोड़ पर आ गई है। कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इन सब का प्रजातंत्र की सफलता की दृष्टि से क्या अर्थ है? वर्तमान के संदर्भ में यह मूल्यांकन आवश्यक हो गया है।

भारतीय प्रजातंत्र को प्रारंभ से ही संदेहास्पद दृष्टि से देखा गया है; इसके विषय में काफ़ी रुचि दर्शायी गई है और कई तरह की अटकलें लगाई गई हैं। भारत में प्रजातंत्र की सफलता के विषय में न केवल विदेशी विद्वान और राजनीतिज्ञ ही संदिग्ध हैं वरन् अनेक भारतीय भी इसके प्रति शंकालु हैं। इसके लिये कई तरह के तर्क दिये जाते हैं।

१—प्रजातंत्र विदेशी पौध है; भारतीय सामाजिक जलवायु इस पौध के वपन और विकास के लिये कतई उपयुक्त नहीं है।

२—प्रजातंत्र की सफलता के लिये जो पूर्व-आवश्यकताएँ होती हैं, वे यहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं : अशिष्टा, संचार-संप्रेषण का अभाव, आर्थिक दैन्य, और बहुदलीय राजनीति इसके मार्ग में भीषण बाधाएँ हैं।

३—अन्य कई विकासशील देशों में, एशिया और अफ्रीका में, प्रजातंत्र असफल हो चुका है और इसलिये शायद भारत में भी उसका अंत समीप है।

तीसरे चुनाव के बाद होने वाले कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने इस धारणा की ओर भी पुष्टि की। कुछ ने तो यहाँ तक कह दिया कि भारत में ये चौथे आम चुनाव अंतिम चुनाव होंगे। ब्रिटेन के एक संवाददाता, नेविल मैक्सवेल, ने तो निश्चयात्मक ढंग से यह घोषणा कर दी थी कि भारत में अराजकता की स्थिति आ चुकी है और प्रजातंत्र कुछ ही दिनों का मेहमान है। चुनाव के परिणामों ने इन भविष्यवाणियों की जो अंत्येष्टि की वह सर्वविदित है। इन चुनावों ने प्रजातंत्र की जड़ें मजबूत की हैं और समस्त नकारात्मक उक्तियों पर पानी फेर दिया है।

भारतीय प्रजातंत्र के विषय में शंकाओं को प्रश्न देने में कई कारणों का हाथ था। तीसरे चुनाव के बाद देश की स्थिति में कुछ ऐसे परिवर्तन आए जिसने इन शंकाओं को बढ़ावा दिया और इसीलिये चौथे चुनाव के परिणामों की ओर सभी की प्रश्नवाचक दृष्टि टिक गई। परिणामों ने प्रत्येक प्रश्नवाचक को विस्मयबोधक में बदल दिया। भारतीय राजनीति में नया मोड़ आया—ऐसा मोड़ जिसकी इतनी सहज और इतनी शीघ्र अपेक्षा नहीं थी; नेताओं की बात तो दूर स्वयं मोड़ देने वाला जनमत भी इससे अवगत नहीं था।

चुनाव से पहले देश के राजनीतिक वातावरण में जो हेर-फेर हुए उन पर यहाँ एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

भारतीय रंगमंच से नेहरू के उठ जाने से एक नयी स्थिति पैदा हो गई। नेहरू के बाद कौन ? का बौद्धिक अटकलों का प्रश्न यथार्थ का प्रश्न बन गया। समूचे मानस की आस्था और विश्वास को जबर्दस्त धक्का लगा। लगा कि जैसे एक न भरी जाने वाली रिक्तता उत्पन्न हो गई है। उस विशाल और दबंग व्यक्तित्व के उठते ही शासक दल में लुके छिपे चल रहे गुट-संघर्ष खुले में आ गए। प्रायः सभी प्रान्तों में काँग्रेस शासक दल और रुष्ट दल में बँट गई। काँग्रेस के गठन में यह गिरावट चिन्ता का एक प्रमुख कारण हो गई।

बाहरी आक्रमणों ने भी देश के सम्मुख एक नयी समस्या—सुरक्षा की और प्रजातंत्र को बचाने की—खड़ी कर दी। चीन के आक्रमण पर हुई कुछ नीति-सम्बन्धी भूलें काँग्रेस की प्रतिष्ठा पर आघात करने लगीं। स्वयं नेहरू भी आलोचना के विषय बने। पहली बार सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव आया। न भुक्ने वाले नेहरू को भी जनमत के सामने झुकना पड़ा और न चाहते हुए भी तत्कालीन रक्षा मंत्री का त्यागपत्र स्वीकार करना पड़ा। लोक सभा के तीन उप चुनावों में काँग्रेस की बुरी तरह हार हुई। बाहरी आक्रमणों से समूचे राष्ट्र में एक प्रकार के राजनीतिक जागरण का सूत्रपात हुआ। सोयी जनता गतिमान हुई। प्रजातंत्र के लिये वांछित क्रियाशील जनमानस तैयार हुआ।

भारतीय जनता को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक और क्रियाशील बनाने में और भी कई बातों का हाथ रहा। बढ़ता हुआ कर का भार, खाद्य समस्या तथा अकाल की स्थिति, और रुपये का अवमूल्यन, सभी ने जनता में एक नयी सतर्कता भर दी। इन प्रश्नों पर सोचने और इनके लिये कदम उठाने का एक नया सिलसिला प्रारंभ हुआ।

इसमें आहुति दी भाषा के प्रश्न ने और नये प्रान्तों को माँग ने। मद्रास में हुए आन्दोलन और आत्मदाह के उदाहरणों ने एक व्यापक विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार करना चाहा। पंजाबो सूबे की माँग को उठा कर संत फ़तहसिंह ने इधर उत्तर भारत के एक प्रान्त में राजनीतिक आन्दोलन की शिखा जलाई। मित्रों की पहाड़ियों में हुई सशस्त्र मुठभेड़ों ने, और नागाओं की माँगों ने उधर पूर्व में चिन्ता की स्थिति पैदा कर दी। मध्यप्रदेश में बस्तर के महाराजा प्रवीणचंद्र भंजदेव के मरण (अथवा हत्या !!) ने आक्रोश और संघर्ष का वातावरण बना दिया। और तब तो जैसे आन्दोलन की राजनीति ही इस प्रजातंत्र का कार्य-व्यापार संपादित करने लगी। विद्यार्थियों और अध्यापकों ने देश-व्यापी आन्दोलन किये : स्कूल और कालेज बंद हुए, लाठियाँ और गोलियाँ चलीं, कई लोग जेलों में गये तो कुछ 'शहीद' भी हुए। उत्तर प्रदेश में तो राज्य कर्मचारियों ने भी असहकार शुरू कर दिया। बंध, घेरा डालो, और आत्म-दाह, राजनीतिक शब्दावली की बहु-चर्चित संज्ञाएँ हो गये। देश में न केवल बसें और ट्रेनें ही जलों वरन् जिन्दा आदमी भी जला दिये गये। मारपीट का स्थल सड़कें और गलियारे ही नहीं रहे, विधान सभाओं और लोक सभा में भी ये दृश्य घटित होने लगे। फूल मालाओं की जगह मरहम की पट्टियाँ लेने लगीं। एक विधान सभा में तो डिप्टी स्पीकर पर क ख ग—१५

जूता तक फेंका गया (सड़े अंडे या टमाटर का युग तो बीत गया !!!) । अनौपचारिक ढंग से ही सही दो बैलों की जोड़ी का निशान अब लड़ते हुए साँड़ों में बदल गया है ।

राजनीति के इस बदलते हुए वातावरण ने भारतीय प्रजातंत्र के लिये सचमुच एक भारी प्रश्नचिह्न लगा दिया । किन्तु चौथे चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रजातंत्र देश में टूटा नहीं है; इसकी जड़ें गहरी पैठ रही हैं । यह निष्कर्ष कई आधारों पर निकाला जा सकता है :

मतदाताओं की संख्या लीजिये । १९५२ में १७ करोड़ ३० लाख मतदाता थे । १९५७ में यह संख्या १९ करोड़ ३० लाख हो गई । १९६२ में मतदाताओं की संख्या २१ करोड़ २० लाख थी । और अब इस चौथे चुनाव के समय २४ करोड़ ५० लाख मतदाता थे । इस प्रकार पहले चुनाव और चौथे चुनाव के बीच ७ करोड़ २० लाख मतदाताओं की वृद्धि हुई । इस चुनाव में पहली बार ३ करोड़ ३० लाख युवा लोगों को मत देने का अवसर मिला । ये लोग वे थे जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश स्वतंत्र भारत में व्यतीत किया है : भारतीय प्रजातंत्र की परंपराओं में ही इनका समाजीकरण हुआ । स्वतंत्र भारत में शिक्षा के बढ़ते हुए प्रसार को लक्ष्य में रख कर यह कहा जा सकता है कि इस नये मतदाता वर्ग का अधिकांश पढ़ा-लिखा तबका है । शिक्षित, युवा और स्वतंत्र भारत में ही पले-पनपे नागरिक को मत देने का यह प्रथम अवसर था : स्वतंत्रता मिले २० वर्ष हुए हैं, २१ वर्ष की आयु वाला नया मतदाता सन् १९४७ में केवल एक वर्ष का रहा होगा । इस प्रकार न केवल मतदाताओं की संख्या में ही वृद्धि हुई है प्रत्युत मतदाताओं में शिक्षितों का अनुपात भी बढ़ा है ।

मतदाताओं की संख्या से भी श्रेष्ठ सूचक मतदान का प्रतिशत है । निम्न तालिका में चारों चुनावों के तुलनात्मक आँकड़े दिये गये हैं :

तालिका १

मतदान का बढ़ता हुआ प्रतिशत

चुनाव	विधान सभाओं के लिये	लोक सभा के लिये
प्रथम चुनाव (१९५२)	३७.१	४५.७
द्वितीय चुनाव (१९५७)	४६.६	४६.६
तृतीय चुनाव (१९६२)	५१.१	५५.४
चतुर्थ चुनाव (१९६७)	५७.०	६१.०

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मतदान का प्रतिशत विधान सभा और लोक सभा दोनों के ही लिये क्रमशः बढ़ा है । प्रथम चुनाव के समय जहाँ आधे से अधिक लोगों ने मतदान में भाग नहीं लिया था, चौथे चुनाव में आधे से अधिक लोगों ने मतदान में भाग लिया है ।

यदि चुनाव में लगने वाले समय को प्रजातंत्र की प्रौढ़ता का सूचक माना जाय तो भी भारत प्रौढ़ होता हुआ प्रजातंत्र है । प्रथम चुनाव में दो माह से भी अधिक समय लगा था, दूसरे चुनाव १६ दिन में ही समाप्त हो गये, तीसरे चुनाव में कुल १० दिन लगे, और चौथे

चुनाव तो अधिकांश स्थलों पर केवल ४ दिन में ही सम्पन्न हो गये। इतने कम समय में १६ करोड़ ४० लाख (कुल मतदाताओं का ६१ प्रतिशत) व्यक्ति अपना मत दे पाए। इक्की-दुक्की घटनाओं को छोड़ कर मतदान का सभी जगह पर शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हो जाना प्रौढ़ता का ही परिचायक है।

इन सब वर्षों में प्रजातांत्रिक प्रौढ़ता बढ़ी ही है। प्रथम चुनाव के समय मतदाता और राजनीतिक दल दोनों ही अनभिज्ञ और अनुभवशून्य थे। दूसरे चुनावों में भाषावार प्रान्तों का भावनात्मक प्रश्न मतदान का निर्णायक कारक रहा। तीसरे चुनाव में जाकर ही असली प्रवृत्तियों का कुछ स्वरूप स्पष्ट हुआ। उस समय निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या में भारी कमी आई (इसे दलों की शक्ति-संचयन की प्रक्रिया भी माना जा सकता है। कांग्रेस की शक्ति कई राज्यों की विधान सभाओं में घटी) राजस्थान, मध्य प्रदेश, और पंजाब इस दिशा में अग्रणी थे। कांग्रेस-विरोधी वातावरण तैयार होने लगा था। स्वयं कांग्रेस के भीतर भी फूट-परस्ती बढ़ती चली गई। परिणामतः चौथे चुनाव के समय कई कांग्रेसी-गुट दल को छोड़ कर बाहर निकल आए और जन कांग्रेस, जनता पार्टी, बंगला कांग्रेस आदि नामों से कांग्रेस का विरोध करने लगे। विरोधी दलों में विचारधारा का मतभेद होने पर भी इस दृष्टि से तो सहमति थी कि कांग्रेस की सत्ता को चुनौती दी जाए। इसीलिये कई जगह विभिन्न राजनीतिक दलों में “सगाइयाँ” हुई, “अस्थायी विवाह” हुए, “सुहाग रातें” मनीं। निर्दलीय उम्मीदवारों की संख्या में पुनः बाढ़ आ गई। राजस्थान में खड़े हुए कुल उम्मीदवारों में से, लगभग आधे निर्दलीय थे। यह स्पष्ट था कि विरोधी दल और देश का संभ्रान्त जन-मानस यह निश्चय कर चुका था कि कांग्रेस का सत्ता पर एकाधिकार समाप्त करना है। इस विचार की पुष्टि दो प्रकार से की गई। एक, प्रजातंत्र के लिये आवश्यक है कि सत्ता का वैधानिक विधि से हस्तांतरण होता रहे ताकि “अल्पतंत्र का लौह नियम” क्रियमित न हो सके; और दो, स्वयं कांग्रेस के विघटन को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि वह सत्ता के मद से मुक्ति पा कर अपने संगठन को पुनः दृढ़ करे, अर्थात् दीर्घकालीन सन्दर्भ में यह कांग्रेस के हित में होगा कि वह हर बार सत्ता न बना सके।

भारत के जनमत ने यह कर दिखाया। किस विचार के वशीभूत होकर यह सम्भव हुआ यह कहना कठिन है। किन्तु इस संकल्प को चुनावों में पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली। बंगाल, बिहार, पंजाब, उड़ीसा और मद्रास के मुख्य मंत्री तक हार गये। कांग्रेस के तथाकथित सिंडीकेट के कर्णधार महाराष्ट्र के पाटील, बंगाल के अतुल्य घोष, उड़ीसा के बीजू-पटनायक, मद्रास के सुब्रह्मण्यम बुरी तरह हारे। स्वयं कामराज भी एक अकिंचन से विद्यार्थी के हाथों परास्त हुए। केन्द्र और राज्यों के अनेक मंत्रियों का भी ऐसा ही भाग्य रहा। ६५ लाखीय जन्मदिवसीय लोकप्रियता के एकमात्र उदाहरण चंद्रभानु गुप्त केवल सत्तर मतों से अपने माथे विजय का सेहरा बाँध सके।

चुनाव के परिणामों ने आठ राज्यों और दिल्ली की महानगर परिषद में गैर-कांग्रेसी दलों को स्पष्ट बहुमत प्रदान किया और पहली बार कांग्रेस को विरोधी दल के रूप में उन स्थलों पर “प्रतिष्ठित” होने का ऐतिहासिक गौरव प्राप्त हुआ। कुछ अन्य राज्यों में भी

कांग्रेस का बहुमत नाममात्र का था और वहाँ शीघ्र ही शक्ति-परीक्षा के स्वयंवर शुरू हुए। हरयाणा में बनी हुई कांग्रेसी सरकार की किशती उलटी। उत्तर प्रदेश भी इन "चरण"-चिह्नों पर चला। चन्द्रभानु "गुप्त" हो गये और चरण "सिंह" हो गये संयुक्त विधायक दल के नेता और उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री। आंध्र में भी शायद इस परम्परा की पुनरावृत्ति होती पर वहाँ के मुख्य मंत्री को सबक सीखते देर न लगी। रूढ़ कांग्रेसी गुट के नेताओं को मंत्रि-मंडल में लेने का तुरन्त निर्णय कर उन्होंने अपनी डूबती नैया उबार ली। पंजाब में विरोधी दल के रूप में कांग्रेस वही रणनीति अपना रही है जो हरयाणा और उत्तर प्रदेश में विरोधी संयुक्त दलों ने अपनाई थी। राजस्थान की स्थिति अनिश्चय की स्थिति है ही।

इन परिवर्तनों से भारतीय राजनीति का नक्शा काफी विविध हो चला है—और अभी भी रंग में परिवर्तन होते जा रहे हैं। समूचा उत्तर भारत और सुदूर दक्षिण की दो इकाइयाँ कांग्रेस के हाथ से छिन से गये हैं। कांग्रेस का गढ़ भारत का मध्य भाग ही रह गया है : महाराष्ट्र, मैसूर, आंध्र, मध्य प्रदेश और गुजरात।

मतदान देने वालों के प्रतिशत में राष्ट्रीय औसत में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। उड़ीसा को छोड़ कर अन्य सभी राज्यों में जहाँ कांग्रेस की भारी हार हुई है। मतदान का प्रतिशत ७१ (बिहार) और १३८ (बंगाल) के बीच बढ़ा है। मध्य प्रदेश में कांग्रेस की आशातीत जीत हुई; वहाँ का प्रतिशत १२२ से बढ़ा। मैसूर में, जहाँ कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला, मतदान में केवल २६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस सबका अर्थ यह है कि मतदाता को चुनाव में रुचि दिलाने में विरोधी पक्ष का प्रबल हाथ रहा है। जहाँ सत्ता को चुनौती नहीं होती वहाँ का जनमत भी उदासीन हो जाता है।

विश्लेषण से एक बात और भी सामने आती है : किसी दल द्वारा चुनाव में जीते हुए स्थानों की संख्या और मिले हुए मतों के प्रतिशत में सही सामंजस्य नहीं होता। जब कई उम्मीदवार एक पद के लिये चुनाव लड़ते हैं तो मत उनमें बँट जाते हैं और फलतः कम मतों के बहुमत वाले को ही विजय मिल जाती है। देश में ऐसे ही अल्पमतों वाली पार्टों का राज्य हुआ है। कांग्रेस को कभी भी लोक सभा में ४८ प्रतिशत से अधिक जनमत का समर्थन नहीं मिला। फिर भी पिछले तीन चुनावों में कांग्रेस की स्थिति एक-सी सुदृढ़ बनी रही : ७० से ७३ प्रतिशत तक सीटें कांग्रेस को मिलीं। चौथे चुनाव में पहली बार मतदान का प्रतिशत भी घट कर ३७८ रह गया और सीटें भी केवल ५४६ प्रतिशत। राज्यों में भी कुल मिला कर इतना ही प्रतिशत कांग्रेस को मिला। मतदान के प्रतिशत और सीटों के प्रतिशत में समानता राज्यों में भी नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिये, उत्तर प्रदेश में सन् १९५२ में कांग्रेस को ६०७ प्रतिशत स्थान मिले किन्तु उसके पक्ष में मतदान का प्रतिशत ४७६ ही रहा। इस चुनाव में सीटें ३६० से घटकर १६८ ही रहने पर भी मतदान का प्रतिशत ३०४ है। अभी महाराष्ट्र में कांग्रेस को सबसे अधिक प्रतिशत (७५) सीटें मिलीं पर पक्ष में मतदान ४८२ प्रतिशत ही रहा। सबसे कम स्थान मिलने वाले केरल में (६८ प्रतिशत सीटें) भी कांग्रेस को ३४ प्रतिशत मत मिले। मतों और सीटों के अनुपात के इस वैषम्य पर अब टीका की जाने लगी है। जब तक मत कई दलों में बँटा रहेगा तब तक यह स्थिति बनी ही रहेगी। यद्यपि

कांग्रेस को काफ़ी कम प्रतिशत मत मिले तथापि अन्य किसी एक ही दल को शेष सभी प्रतिशत नहीं प्राप्त हुए। अपवाद इस दृष्टि से मद्रास की द्रविड़ मुनेत्र कणुगम है। अन्य राज्यों में कई दलों को मिल कर संयुक्त मोर्चा बनाना पड़ा।

भारतीय राजनीति के वर्तमान में कई नयी बातें सामने आई हैं, जिन पर विचार करना अनिवार्य सा हो गया है।

—भारत के राजनीतिक दलों के सम्मुख प्रमुख प्रश्न अपने भविष्य के स्वरूप का है। यह स्पष्ट हो चला है कि इस देश में राष्ट्रीय स्तर पर सफलता प्राप्त करने में दो प्रकार के दल समर्थ नहीं हैं—प्रान्तीय हितों वाले दल, और धार्मिक या साम्प्रदायिक दल। इन दलों को या तो अपने क्षेत्र का विस्तार करना होगा या फिर अंतर-प्रान्तीय दल में सम्मिलित हो जाना होगा।

—संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास सामयिक है। कुछ बातों में सहमत होकर अपने दल के स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखना सदैव सम्भव नहीं है। जब एक ही दल के बीच एका नहीं रह सका तो फिर भिन्न-भिन्न दलों के बीच एकता बना रहना दूसरा ही लगता है। इस संभावना को यदि स्वीकार किया गया तो फिर दलों के विलयन का क्रम प्रारम्भ होगा। देखना यह है कि यह विलयन कैसे-कैसे होता है। इस दिशा में प्रयास होने लगे हैं।

—यह भी साफ़ हो चुका है कि मतदाता अभी दलीय विचार धाराओं के सन्दर्भ में अधिक नहीं सोचता। मत व्यक्ति और परिस्थिति को लक्ष्य कर निश्चित किये जाते हैं। दलों ने भी आवश्यकतानुसार अपने प्रचार का रुख बदला है, इस क्रिया में विचारधारा भी ताक में रख दी गई है। यदि मत का अर्थ दल की नीति के समर्थन से लिया गया तो भारी भूल होगी। मतदाता का राजनीतिक सामाजीकरण अभी अपूर्ण है।

—केन्द्र और राज्यों में अलग-अलग दलों की सरकार बनने से नये संवैधानिक प्रश्न सामने आने लगे हैं। संघीय व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा, यह देखना है। कुछ भी हो ये परिवर्तन प्रणाली के भीतर के परिवर्तन हैं, प्रणाली को तोड़ने वाले नहीं। कांग्रेस की शक्ति निश्चित ही क्षीण हुई है, पर एक दल का क्षीण होना या विघटित होना प्रजातंत्र का क्षीण होना या विघटित होना नहीं है। सत्ता के एकाधिकार को चुनौती देने से प्रजातंत्र का पक्ष प्रबल ही हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर बदलते परिवेश और हमारी चिन्तन-दिशाएँ

अमर गोस्वामी

जिस राष्ट्रीय पुनर्जागरण का सूत्रपात गुलामी के दिनों में हुआ था उसका अंत स्वतंत्रता प्राप्त होते ही हो गया। स्वतंत्रता के पहले जनता यह सोचने को विवश थी कि बिना राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त किए हुए उनकी आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं में बदलाव नहीं आ सकता। इसलिए लाचार होकर वह इस युद्ध में क्रांति एवं अहिंसा के माध्यम से संलग्न हुई थी। आज यह भ्रम टूट चुका है।

यह बात सही है कि जब जनता ने स्वतंत्रता-प्राप्ति को अपनी समृद्धि का एक बिन्दु माना था और उसे ही जब वह हासिल नहीं कर सकी तो निश्चय ही उसका सम्पूर्ण वाह्य और आंतरिक परिवेश उसके लिए बदल गया। उसकी तीव्र प्रतिक्रिया बुद्धिजीवियों में हुई। उसे जिन मूल्यों पर आस्था थी उनकी हत्या एक-एक कर उसके सामने कर दी गई। फलतः स्वतंत्रता की प्राप्ति एक रूढ़ि-सत्य में बदल गई।

इतना तो तय है कि संवेदनशील रचनाकारों को यह एहसास हो गया कि स्वतंत्रता के बाद का उनका जीवन अत्यंत संश्लिष्ट और जटिल हो गया है, जबकि इसके पहले का जीवन सहज और सरल था। इसीलिए साहित्य में भी नये सत्यों को पाने के लिए विरोध और सर्जन का दोहरे स्तरों पर निर्वाह हुआ। इसके साथ ही व्यक्तित्व का भी दोहरे स्तरों पर विभाजन होने लगा जिससे एक ही वस्तु के निषेध और समर्थन की प्रवृत्ति का विकास साहित्य में स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा। फलतः एक ही व्यक्ति अपनी रचनाओं में नायक और खल-नायक की भूमिका एक साथ करने लगा। ये सारे लोग मुखौटेवादियों के प्रतिवाद में खड़े हुए और गलत साहसिकता को अपनी जिन्दगी बना लेने के भ्रम में खुद नये-नये मुखौटे गढ़ते गये।

निषेध की यह सारी प्रक्रिया हमें भारतीय राजनीति से विरासत में मिली। स्वतंत्रता के बाद बातें और वायदे तो लम्बे-चौड़े होते गये और प्रजातन्त्र, समाजवाद, विश्वशान्ति, धर्म-निरपेक्षता और तटस्थता आदि वजनदार शब्दों का निर्माण हुआ फिर सरकारी तन्त्र के अपने ही रोलर ने उन सभी ढेलों को पीस कर बराबर कर दिया या गलत सन्दर्भों में इन शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। अधिकांश साहित्यकारों ने भी यही किया। न तो वे वस्तुस्थिति को सही ढंग से समझ सके और न सही ढंग से अभिव्यक्त कर सके।

बेहतर तो यही है कि मैं अपनी बात को परिवेश से ही प्रारम्भ करूँ। युगीन समाज और व्यक्ति के चारों ओर की तत्कालिक, राजनीतिक सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों से युक्त व्यवस्था से आक्रांत मनस्थिति को हम परिवेशगत मनःस्थिति की संज्ञा दे सकते हैं, जिसमें ऐतिहासिक और भौगोलिक चेतना भी सम्मिलित रहती है। व्यक्ति के चेतना-

स्तरों पर निरन्तर प्रहार होते रहने के बावजूद सभी की चेतना समान स्तरों पर प्रश्नाहत नहीं हो पाती। साथ ही यह भी तय है कि साधारण जनों की संवेदना का विकास विविध स्तरों पर नहीं हो पाता। यह तो उन्हीं में रहता है जिनमें सर्जन क्षमता होती है। संवेदना को मैं यहाँ रेखांकित कर रहा हूँ। जिसकी चेतना सर्वकालिक स्तरों पर प्रभावित होती है वही व्यक्ति संवेदनशील होता है और संवेदनशील व्यक्ति ही सही माने में रचनाकार हो सकता है। मेरे विचार से रचनाकार का सबसे बड़ा गुण इसमें 'संतुलित दृष्टि के विस्तार का होना' है।

इस संतुलित दृष्टि के विस्तार का अभाव स्वातंत्र्योत्तर साहित्यकारों में प्रमुख रूप से पाया जाता रहा है विशेषकर सन् साठ के बाद के रचनाकारों में। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद घटित हुई देश में बड़ी-बड़ी घटनाओं को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। मसलन गाँधी की हत्या, सांप्रदायिक दंगे, नेहरू की मौत, हड़तालें, लाठी-चार्ज, गोलीकांड, मंहगाई में अकल्पनीय वृद्धि, बेरोज़गारी और दूसरी ओर औद्योगिक योजनाओं का क्रियान्वयन तथा विकास के लिए विविध प्रयास के बावजूद भ्रष्टाचारजन्य असफलता एवं हाल ही में हुए भाषाई दंगे। इन तमाम घटनाओं या दुर्घटनाओं का कोई भी उल्लेख आज के साहित्य में नहीं मिलता है। अपवाद हो सकते हैं, इससे मैं इन्कार नहीं करता, लेकिन इतने से ही हम किसी विशिष्टता को रेखांकित नहीं कर सकते।

अतीत का अन्धमोह हमारे चिंतन में शुरू से बाधक रहा ही है, सबसे बाधक हुआ पश्चिम का आरोपित चिंतन, जिसे भ्रम से आधुनिकता की संज्ञा दी गई है। पिछले एक दशक से आधुनिकता पर बहस करने वालों की दार्शनिक बुद्धि में यह नहीं आया कि आधुनिकता एक परिवर्तनशील इतिहास चेतना है। वे इस पर बहस करते रहे और आधुनिकता का रूप अपने आप बदलता रहा। पश्चिम के 'मूल्यों' को ही अपना 'मूल्य' मान लेने की अनुकरण वृत्ति ने हमें अपनी काल-चेतना, अपनी संवेदना और अपनी अनुभूति को विस्मरण करा कर हमें भिच्चा-जीवी बना दिया। फल यह हुआ कि पश्चिमीय आंदोलनों के पीछे हमारी वृत्ति मात्र 'लपकने' तक ही सीमित हो गयी। चूँकि वहाँ पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रसार था इसीलिए यहाँ पर भी हुआ। चूँकि वहाँ के बुद्धिजीवियों ने अपनी सारी परम्पराओं के इतिहास को खत्म करके कुंठा, विघटन और अनास्था की मुद्रा धारण कर साहित्य एवं कलाओं में उसकी भयंकरतम अभिव्यक्ति करने की आवश्यकता महसूस की, इसलिए यहाँ के द्रष्टा-सर्जकों ने भी उस बर्बरता की मुद्रा को अपना कर मात्र आतंकित और संतुष्ट होने का सफल अभिनय किया।

इस 'अभिनय' की बात मेरे ध्यान में इसलिए आई कि भ्रष्ट पूँजीवादी शासन-तन्त्र में भ्रष्ट-मूल्यों को सहयोग देने वाले ये निरीह (?) बौद्धिक जन अपने ही कृत्यों से आतंकित हो गये ! इसके खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करने के बजाय इन्होंने स्वयं ही अपनी मुद्रा शहीदानी बना ली और अपने पिटने का ढिंढोरा चारों ओर पीटने लगे। उन्हें अपनी धरती अपने देश और अपने समाज के प्रति ईमानदार होना चाहिए था। एक दीर्घकालीन गुलामी के बाद उन्हें मुक्त हवा में साँस लेने का अवसर मिला था। यह सही था कि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं मिलीं। लेकिन नैतिकता को खोखली होने से बचा कर उसे अपने अनुरूप किया जा सकता था। यह सही है कि साहित्यकार समाज सुधारक या प्रचारक नहीं होता, पर यह भी क ख ग—१५

सही है कि सर्जनात्मक नैतिक मूल्यों को खोकर कोई भी साहित्यकार, साहित्यकार नहीं रह जाता।

पश्चिम में बीटनिकों का आन्दोलन अति भोग-विलास से आक्रांत मनःस्थिति और उससे उत्पन्न एक भयानक अनैतिकता के विरुद्ध उत्पन्न हुआ। अति आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण से उत्पन्न आतंक के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया। भौतिकता-जन्य नियति को इन्होंने तोड़ने की योजना बनायी। भारतीय परिवेश इससे सर्वथा भिन्न था। कितनी लम्बी मानसिक यातनाओं और वैचारिक प्रक्रिया से गुजरने के बाद गिन्सबर्ग ने हजारों आदमियों के सामने अपने को नंगा किया होगा। लेकिन बेवजह इस देश के लोगों ने अपने भी पाजामें खिसकाने शुरू किये (यह भी मात्र मानसिक विलास रहा ! खिसकाया किसी ने नहीं।) इससे इस देश की एक तथाकथित नयी पीढ़ी के मानसिक आचरण और बौद्धिक दिवालियेपन का साफ पता चल गया।

हिप्पी और मारिजुआना-संस्कृति से न इस देश का भला हो सकता है न जनता का न लेखक का। आवश्यकता इस बात की है कि हम यथार्थ का तथ्यपरक चुनाव करते हुए अपनी इतिहास चेतना से जुड़े रहें। लेखन और सत्य की प्रामाणिकता बिना इसके हो ही नहीं सकती।

एक और खतरनाक स्थिति तब उत्पन्न हुई जब एक अभिजात किस्म के वर्ग ने अपने प्रच्छन्न प्रचार के लिए साहित्य को अपनाया। ऐसे लोगों से न जन-जीवन से जुड़े रहने की आशा की जाती थी न किसी आदर्श और आस्था की। अपनी सर्जन-प्रतिभा शून्य मनःस्थितियों में इन्होंने साहित्य में प्रयोग के नाम पर बीजगणितीय और रेखागणितीय करामातों का प्रदर्शन किया। अपनी अभिव्यक्तियों में स्वयं उलझे रहने के कारण उनका साधारणीकरण लेखक और पाठक दोनों की पहुँच से बाहर रहा। अपनी असफलता की कुण्ठा से अपने बचाव के लिए इन्होंने बराबर कामू, सार्त्र और काफ़्का की दलीलें पेश कीं। आलोचना में पक्षधरता की प्रवृत्ति भी इन्हीं के प्रभाव से आई। सर्जनात्मक प्रतिभा शून्यता को मात्र तर्क के आधार पर प्रतिष्ठित करने के दुराग्रह ने आज की आलोचना को निष्क्रिय एवं प्रभावहीन कर दिया है।

इन्हीं परिस्थितियों से घिरे रहने के कारण आज देश का सारा चिन्तन 'लोलुपता' में बदल गया है। चाहे यह लोलुपता पश्चिम के ग्रन्थ अनुकरण की हो या सरकारी नौकरी, सरकारी उपाधि और सरकारी संरक्षण की। चूँकि सरकारी साहित्यकार सारी स्थितियों से असहमत होता हुआ भी सरकार के प्रति आस्थाशील रहता है, इसलिए विघटन और अनास्था और संत्रास की ऐसे लोग चर्चा करके ही रह जाते हैं, जबकि ये चाहें (अगर इनमें साहस हो) तो इन परिस्थितियों को दूर करने में एक महत्वपूर्ण कड़ी साबित हो सकते हैं दुर्भाग्य तो यह है कि ऐसे साहित्यकारों का सारा चिंतन साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों, अध्येक्षा और संपादकीय कुर्सी को सँभालने में ही खत्म हो जाता है।

लेखकीय स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता की चर्चा भी एक असें से की जाती रही है। प्रतिबद्धता अपने प्रति भी हो सकती है, समाज के प्रति भी और लेखन के प्रति भी। व्यक्ति

सबसे पहले एक सामाजिक प्राणी है और उसे एक ही समय पति, पिता, पुत्र और मित्र का दायित्व निभाना पड़ता है। नागरिक के रूप में उसे समाज एवं राष्ट्र के हर नियम-कानूनों से जुड़ा रहना पड़ता है। यह हर व्यक्ति की अपनी क्षमता है कि वह अपने दायित्वों का निर्वाह कितने स्तरों पर करे। सफल साहित्यकार होने के लिए प्रतिबद्ध होना या न होना कोई कसौटी नहीं है। लेकिन इतनी तो बाध्यता है कि उसकी आसक्ति सत्य और मानवीय मूल्यों के प्रति होनी चाहिए। दरअसल सही प्रतिबद्धता का प्रारम्भ इसी बिन्दु से होता है।

सर्जन के अन्तरंग क्षणों में व्यक्ति नितांत अकेला रहता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि उसका लेखन किसके लिए है? वह प्रतिबद्ध है या अप्रतिबद्ध। लेकिन अपनी व्यापक संवेदना और सूक्ष्मानुभूति के बल पर वह अपनी चेतना का तादात्म्य लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के साथ अनजाने ही उन्हीं क्षणों में कर लेता है। ऐसे रचनाकारों में विलक्षण प्रतिभा-संपन्नता होती है।

इनके सर्जक मन का चतुर्दिक आयाम स्वयं ही 'संबोधित लेखन' का पर्याय बन जाता है। 'असंबोधित लेखन' का आधार वैचारिक शून्यता तो है ही, अभिव्यंजना पक्ष का कमजोर होना भी साबित करता है। इधर कई बार साहित्य में एक गतिरोध का संकट उभरने के एहसास का सबसे बड़ा कारण ऐसी लक्ष्यहीनता का होना ही था। नये मूल्यों की तलाश में रत प्रयोगधर्माग्र्यों ने अपने ही लिए जमीन पर तैरने का संकट उपस्थित कर गलत नारों को मुहावरा देने की असफल कोशिश की।

मध्यम वर्ग विशेष कर निम्न मध्यम वर्ग की स्थिति हमेशा से संकटपूर्ण रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो जैसे उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी है। जहाँ एक ओर उसमें शिक्षित होने के कारण अपने जीवन-स्तर को उठाने की लालसा हुई वहीं दूसरी ओर आर्थिक विषमता के कारण उसमें लगातार कुण्ठा, अनास्था, निराशा एवं व्यक्तिवादिता की भावनाओं का भी समावेश हुआ। इसी कारण उसके जीवन के सारे निर्माणपरक मूल्य ध्वस्त हो गये और उनके स्वभाव में स्वार्थ, उच्छृङ्खलता और चरित्रहीनता के गुणों का समावेश हो गया। जिसके फलस्वरूप पति-पत्नी, भाई-बहन और माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्धों में बिखराव भी आ गया है। अपने-अपने संक्रमण की प्रक्रिया को निजी स्तरों पर सभी भेल रहे हैं। बदलते जीवन मूल्यों के परिवेश को आज के कहानीकारों ने ईमानदारी से अपनाया है और प्रारम्भिक काल की कहानियों की अतिनाटकीयता, छिछली भावुकता और शाब्दिक बाजीगरी से अपने को मुक्त किया है। इससे कहानी को एक आधुनिक दृष्टि मिली। लेकिन एक शिकायत अब भी रह जाती है कि इन सारे निषेधों के बीच से आस्था का स्वर खो सा गया है। फलस्वरूप कहीं-कहीं पर ऐसे बिखरावों का चित्रण भी अतिरंजनापूर्ण हो गया है। प्राचीन मूल्यों को अस्वीकारने की प्रतिस्थापना में इन्हें नया मूल्य लाना चाहिए था। वैसे कहने के लिए सीपरिया, मिस पाल, गुलकी बन्नों, दो दुःखों का एक सुख, राजा निरबंसिया जैसे नाम गिनाये जा सकते हैं। लेकिन इससे बात बनती नहीं। हिन्दी-साहित्य में स्तरीय रचनाओं की गणना उँगलियों पर की जा सकती है। सन् साठ के बाद की कहानियों में तो कल्पित संत्रास और नपुंसक नायकों को लेकर एक फ्रौज ही खड़ी कर दी गई है। 'सेक्स' को

आधार बनाकर लिखी जाने वाली कहानियों को पढ़ने से साफ़ पता चलता है कि इस विषय में लेखकों का प्रारम्भिक ज्ञान कितना छिछला और हास्यास्पद है और मज़ा तो यह है कि ऐसे अनाप-शनाप चित्रण में उन्हें साहसिकता और आधुनिकता दोनों का बोध होता है।

सर्जनात्मक पहलुओं पर दृष्टिपात करते हुए युद्ध साहित्य पर भी विचार करना आवश्यक है। युद्ध की संहारक शक्तियों से परिचित व्यक्ति कभी भी उसका समर्थन नहीं करेगा लेकिन न्याय-युद्ध को वह न करेगा भी नहीं। विशेष कर जिसमें जनता का तटस्थ आत्म-सम्मान भी सम्मिलित रहता है। यह एक विचित्र बात है कि अधिकांश युद्ध शांति की रक्षा के लिए ही लड़े जाते हैं। लेखक के लिए जरूरी है कि वह युद्धात्मक दृष्टिकोणों का विरोध करे। क्योंकि दृष्टिकोणों का अन्तर ही 'सत्य', जो जीवन-मूल्य भी है, की हत्या कर देता है। इन विशिष्ट जीवन-मूल्यों के धरातल पर ही सर्जनात्मक मूल्य विकसित होते हैं और मूल्य-बोध खोकर लेखन में जीवंतता नहीं रह जाती। यह भी तय है कि युद्ध प्रारम्भ हो जाने के बाद रचनाकार अपनी रचनाओं से युद्ध को रोक नहीं सकता है। लेखन की सार्थकता युद्ध-प्रारम्भ न होने देने की स्थिति में है। मेरे अनुसार युद्ध का सर्वश्रेष्ठ लेखन युद्धोत्तर काल में ही संभव है जब व्यक्ति युद्ध के आतंक को भेल कर उनके प्रति तटस्थ हो चुकता है। मात्र पर्वेबाजी करने से ही दायित्व पूरा नहीं हो जाता। युद्ध-काल में थोथी कविताएँ आदि न लिख कर अगर रचनाकार अपनी शक्तियों को देश की रक्षा-पंक्ति को मज़बूत बनाने में या रक्षा-कोष के लिए धन जुटाने में या नागरिक सुरक्षा के लिए अन्य रचनात्मक कार्यों को करने में लगाये तो उसका यह अवदान देश के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना जायेगा।

स्वतंत्रता के बाद देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा कि ग्रामीण जनों की रूचि का विकास साहित्य में संभव नहीं हो सका। यों तो भारतीय सुसंस्कृत नागरिकों में ही साहित्य पढ़ने की आदत नहीं है, फिर ये तो अपढ़-गँवार ही ठहरे। इसका दोष सरकार और साहित्य-कार दोनों पर है। सरकार को चाहिए था कि ग्रामीण जनों एवं अन्य साधारण नागरिकों में पठन-पाठन की रूचि का विकास करती और तत्पूति के लिए हर संभव साधन जुटाती। साहित्यकारों को चाहिए था कि ऐसे लोगों को ध्यान में रख कर कुछ सहज और सरल भाषा में साहित्य-सर्जना करते क्योंकि अगर वे चाहें भी तो आधुनिक लेखन का ककहरा उनके पल्ले नहीं पड़ सकता। ध्यान में रखने की बात यह है कि ग्राम-साहित्य की रचना करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि बाल-साहित्य। दोनों की संवेदना भी मूल्यतः एक ही है।

अंत में आज के परिवेश की सबसे महत्वपूर्ण चर्चा भाषा पर करना चाहूँगा। इस देश की सबसे बड़ी त्रासदी यह रही है कि यहाँ के बुद्धिजीवी एक ऐसी भाषा की सर्जन-क्षमता को बढ़ाना चाहते हैं जो उनका कुछ भी नहीं है। भाषा का सवाल निश्चय ही आज बहुत अधिक उलझ गया है क्योंकि इसके साथ एक विशेष वर्ग का आर्थिक स्वार्थ भी जुड़ा हुआ है। निश्चित है कि ऐसी स्थिति में बिना कोई ठोस कदम उठाये इस स्थिति का समाधान नहीं हो सकता है। हमें अन्य भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में भी इसे फिर से समझना और परखना होगा। जाहिर है कि यह एक ऐसी चीज़ है जिसका हल न चुटकियों में हो सकता है न नारे बाज़ी से।

काल की तरह जीवन और मृत्यु की व्यर्थता को स्वीकार करने का दर्शन इस देश के लिए अनुपयोगी है। अने वाला कल इस बात का भी निर्णय करेगा।

सुधा गुप्त

एक आत्म कथ्य

और एक बार फिर

उस पीड़ा से व्याकुल होकर

अपने में लगाती हूँ

बारूदी सुरंग।

भयानक विस्फोट के साथ

टुकड़े टुकड़े हो

बिखर जाती हूँ

ऊपरी कठोर परतें।

एक धुंधला आलोक

चारों ओर फैल जाता है

अन्दर की चक्करदार सीढ़ियों पर

अनेकों रूपों प्रतिरूपों से मढ़ा

मेरा व्यक्तित्व

अपनी पूर्ण नग्नता के साथ

लुढ़कने लगता है।

ज्यों ज्यों नीचे उतरती हूँ

मेरे साथ रह जाता है

अन्तरतम की गह्वर की उस

अन्तिम सीढ़ी पर

वह रूप

जो था

जन्म के समय

विश्वनाथ प्रताप सिंह

(१) इस-उस

यह
कठुआई हुई
काठ की कुर्सी
और वह
भूमती हुई डाल
करीब करीब एक ही है
फरक—
इस पर
मैं
उस पर
परिन्दे हैं ।

(२) आप बीती

अनमना बैठा हूँ
मनमानों की टोली में
कोई कम मनचला नहीं मैं भी
पर
ये दीवाने ही
नकली हैं ।

शौक
इनके लिए
महज एक रीति है
पतलून की क्रीज सी
मेरी तो पूरी कहानी है
शिकन भरी कमीज सी ।

(३) गुमनाम

एक दिन मेरा नाम
मुझसे
अलग जा खड़ा हुआ ।
जग ने पूछा—
'इन दोनों में

तुम कौन हो ?
 अपने नाम को ही
 सच बता
 मैं अपने को इन्कार गया ।
 तब से
 इस जग में
 एक अपरिचित
 गुमनाम हूँ ।

(४) बेबसी

अदुखी हूँ
 क्या तुम भी हो
 आओ इस मेले से खिसक चलें
 नहीं तो
 शोर मचा कर
 सुख मनाना पड़ेगा ।

(५)

(६)

लोहिया और महासंघ

प्रमोद तिनहा

संभावनाओं के आधार पर निष्कर्ष दे देना और वह निष्कर्ष सब कुछ घटित होने से पूर्व दे देना कुछ अर्थों में खतरनाक भी होता है। खतरनाक इन मानों में कि जब तक घटित नहीं होता लोग यही समझते रहते हैं कि यह सारा कुछ एक भ्रम जाल है जो कि उनके सामने निष्कर्ष के रूप में रख दिया गया है। लेकिन जब निष्कर्ष का रूप प्रत्यक्ष होता है, तो ऐसा लगता है—यह तो किसी के द्वारा पहले ही कह दिया गया है, उस चेतावनी की उपेक्षा की गई थी इसीलिए परिणाम गलत भोगना पड़ा। राजनीतिक एवं सामाजिक दायरों में डॉ० राममनोहर लोहिया से सम्बन्धित बातें भी घूम फिर कर शायद इसी केन्द्र बिन्दु से सम्बन्धित है और समाजवाद का भावी रूप भी लगभग इसी को देखते हुए निर्धारित होगा, ऐसा विश्वास है।

देश की सारी समस्याओं को एक साथ नहीं हल किया जा सकता और न उन पर सही दृष्टि डाली जा सकती है। इसलिए यहाँ अपनी बात यदि एक सीमा में रखकर कही जाए तो कहा जा सकता है कि आज की आर्थिक अस्त-व्यस्तता का बहुत कुछ दुष्परिणाम मुद्रा-स्फीति के कारण भोगना पड़ रहा है। पाकिस्तान युद्ध ने तो दोनों देशों की रही सही आर्थिक कमर तोड़ दी। एक ही टुकड़े के दो रूप एक साथ एक दूसरे को ध्वंस करने के लिए टकराते रहें या टकराने का लगातार प्रयत्न करते रहें यह बात खतरनाक ही नहीं भयानक भी है, वह भी उस समय जब उनकी आर्थिक योजनाओं की मीनार लगातार ऊँची की जा रही हो। प्रश्न है इस भगड़े का कारण क्या है, और यदि इसके कारण की तलाश हो भी गई हो तो यह अपने में सही कितना है ?

इस प्रश्न को जब मैं सोचता हूँ तो हैदराबाद में ३ अक्टूबर ६३ को दिया गया डा० लोहिया का भाषण याद आता है जिसमें उन्होंने धर्म के प्रश्न को उठाकर हिन्दू और मुसलमान इन दो वर्गीकरणों के कारण उठ जाने वाली नाना समस्याओं पर विचार किया था। उन्होंने इसका निष्कर्ष रूप में समाधान दिया हो या नहीं पर समाधान की दिशा की ओर संकेत अवश्य किया है।

मूल प्रश्न है आज धर्म का भी कुछ अर्थ है, या रह गया है ? वस्तुतः धर्म केवल अपने आप में एक 'जार्जन' रह गया है। प्रबुद्ध तबके के लोगों के लिए तो यह अर्थहीन हो जा चुका है। पर इतना अवश्य है कि वे ही लोग इस 'जार्जन' को उलट-पुलट कर अपना मतलब सीधा करते हैं, चाहे वह चुनाव के मौके पर हो या किसी अन्य मौके पर। लोहिया ने हिन्दू-मुसलमान के इस मसले को बड़ी ही पैनी दृष्टि से देखा और इस बात का भी स्पष्टीकरण किया कि ये नामकरण अस्त्र की तरह इस्तेमाल किए जा रहे हैं। दोनों ने ही अपना मूल अर्थ खो दिया है। अब इनका अर्थ एक धर्म या दायरे को मानने वाला न रहकर लगभग परस्पर विरोधी सा हो गया है। कांग्रेसी शासन ने इस नब्ज को खूब अच्छी तरह समझा साथ ही

उससे अपना स्वार्थ साधन भी किया। इसी बात को इंगित करते हुए डा० लहिया ने स्पष्ट रूप से नेहरू जी पर आरोप लगाया था कि—‘महकमा उनका, सरकार उनकी, दिल्ली सरकार के वे खुद मालिक हैं। लगातार पौने पाँच वर्ष तक वे मुसलमानों को सेना और दूसरी बड़ी जगहों से दूर रखते हैं और फिर जब मुसलमान भड़कने लगते हैं तो तीन महीने के लिए अपना सुर बदल देते हैं। कभी कोई जमीअत का सम्मेलन बुलवा लेते हैं, और कहना शुरू करते हैं कि अब मैं यह और बरदाश्त नहीं कर सकूँगा, मेरे मुल्क के बाशिन्दों को बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। तरह-तरह की बातें करके वे मुसलमानों का दिल खुश कर लेते हैं।’ यहाँ धर्म का ‘जार्जन’ देकर वे लोग दोनों वर्गों को खुश करने वाली मनोवृत्ति के कारण आक्टोपस की तरह सब कुछ चूसते रहते हैं। यह चूसना उनकी देह रक्षा का एक अंग है। और गलत हाथों में रखी गई देश की नींव पर बनाया गया सब कुछ टेढ़ा होता ही चला जा रहा है। कदाचित्त उन तराशने वालों की दृष्टि में—ठीक ढंग से तराशने से सबसे बड़ा खतरा उन्हीं के पाँवों को होता, यह बात वे अच्छी तरह जानते थे।

यदि हम छोटे दायरे की व्यवस्था के लिये इस राष्ट्र और राष्ट्रीयता की स्थिति को थोड़ी देर के लिए मान भी लें, तो शायद यह बात और भी अधिक साफ हो जाती है। हिन्दू और मुसलमान ही नहीं अन्य दूसरी जातियों का वर्गीकरण भी निरर्थक है, क्योंकि इसे मानना भी वर्ग भेद को बढ़ावा देना है और वर्ग भेद चाहे जैसा भी हो अर्थहीन ही नहीं घातक भी है। इस घातक परिणाम को हम लोगों ने देखा लगभग हर चुनावों में जिसमें कि सही बात न कही जाती है और न कही जा सकती है। हमेशा इस बात का खयाल बना रहता है कि दूसरा धर्म या वर्ग असंतुष्ट न हो जाए और स्थिति खतरे में न पड़ जाए। लोहिया ने इसी बात को देखते हुए कहा था कि—“नतीजा यह होता है कि हिन्दुस्तान में जितनी भी पार्टियाँ हैं, वे हिन्दू-मुसलमानों को बदलने की बात बिलकुल नहीं करतीं।” शायद कर भी नहीं सकतीं, क्योंकि राजनीतिक पार्टियों को अपने अस्तित्व की अधिक चिन्ता रहती है, बनिस्बत कि सही स्थिति इसके सामने आए और उसमें सुधार के रूप में आमूल परिवर्तन किया जाए। प्रश्न है यह परिवर्तन क्या है? दरअसल यह परिवर्तन सारे वर्ग या वर्ण भेद मिटाकर आदमी को मुलम्मा रहित के पहचान से सम्बन्धित है। एक और वर्ण और वर्ग भेद को हम मिटाने की लालसा रखते हैं, यह अच्छा भी है, पर यदि उपर्युक्त दोनों भेदों को मिटा कर भी धर्म भेद बना रहता है तो उसकी मूल स्थापना में फर्क क्या हुआ। यह तो फिर एक तरह के भेद को तोड़ कर दूसरे तरह के भेद को बढ़ावा देने की बात होगी।

आज हिन्दू और मुसलमान देश के लिए प्रश्न-चिह्न की तरह हैं और हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान की सरकारें दोनों एक दूसरे के लिए खतरा उपस्थित करती हैं। खतरा का अर्थ यह कि वे कभी एक दूसरे का चेहरा सामने साफ तरीके से नहीं आने देतीं। एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करती हैं और उस प्रचार को प्रोत्साहन भी देती हैं। धार्मिक भावना को उभारती हैं। अपने देश की अव्यवस्था और अपनी कमजोरी छिपाने के लिए लोगों का ध्यान युद्ध पर केन्द्रित करती हैं और परिणाम होता है केवल ह्रास, चाहे वह नैतिक मनोबल का हो या आर्थिक व्यवस्था का। हम जहाँ हैं वहाँ से पीछे खिसकते चले जाते हैं और फिर-फिर उसी क ख ग—१५

स्थान पर आने के लिए ऋण लेते हैं। नतीजा यह होता है कि हमारे लिए ऋण एक ऐसा दलदल बन जाता है—जिसमें से निकलने का प्रयत्न भी फँसते जाना है। इस दलदल में लगातार फँसते जाने का एहसास हममें से अधिकांश इसी बात से महसूस कर सकते हैं कि देश के शासन पर विदेशी नियंत्रण का शिकंजा तेजी से कसता चला जा रहा है।

नयी पीढ़ी केवल इसलिए भले गर्व करे कि उसने स्वतंत्र देश में जन्म लिया है पर परोक्ष रूप से विदेशी शिकंजे और बहुत कुछ विदेशी सरकारों का रुख देख कर अपनी नीति निर्धारण करना परोक्ष मानसिक दासता का ही परिणाम है। वस्तुतः उस विदेशी दासता और इसमें—परिस्थितियों के फ़र्क के अलावा और कोई अन्तर नहीं कहा जा सकता। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

पीछे के इतिहास की ओर देखें तो कहा जा सकता है कि दरअसल धर्म के नाम पर देश का बटवारा गैर सिद्धान्ती बटवारा था। यदि सिद्धान्त कुछ था भी तो वह निहायत गैर अच्छे किस्म का, क्योंकि एक सिद्धान्त नहीं बन सका। आज के ज़माने में धर्म के नाम पर बटवारा हो भी सकता है? यदि हुआ तो उसे जायज़ कौन करार करेगा? जाहिर है कि वे लोग ऐसे ही होंगे कि उन्हें केवल सत्ता का मोह होगा और उन्हें इस बात की ज़रा भी चिन्ता न होगी कि धर्म के नाम पर गैर सिद्धान्ती बटवारे के बाद परिणाम कितने बुरे होंगे।

...क्या इसका परिणाम उन लोगों को भोगना पड़ा जिन्होंने यह बटवारा किया? शायद नहीं, लेकिन उसके बाद भी यदि चिन्ता होती तो उसमें से कोई भी बटवारे के समय उठ जाने वाले साम्प्रदायिक दंगों की ओर भी इशारा करता और उससे बचाव का भी रास्ता निकालता। यदि बचाव के लिए सोचा जाता तो कोई कारण नहीं था कि रास्ता नहीं निकल आता, क्योंकि जब इस देश का धार्मिक रूप से बँटवारा हो सकता है तो ऐसा कोई कारण नहीं दीखता की एक तरफ एक देश केवल एक धर्म मानता है, दूसरी तरफ दूसरा जो कि कई धर्म—दोनों मिलजुल कर बचाव का रास्ता न निकाल पाते। इसमें असफलता का कोई कारण समझ में नहीं आता? दरअसल उस समय भी हम विदेशी हाथों में उतने ही थे जितनी आज की सरकार; क्योंकि फ़र्क केवल सीधा और घुमावदार रास्ते का है। उनके सम्बन्धों के साथ ही देश की सत्तारूढ़ सरकार की मनोवृत्ति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

यदि परिवर्तन हुआ है तो अब इन्हीं दोनों देशों की सरकारों में। पहले एक ज़मीन थी, एक देश के निवासी थे—अब एक दूसरे के विपरीत हो गए। दरअसल दोनों देशों के बीच शत्रुता बनाये रखने में भी किन्हीं लोगों का स्वार्थ सधता है। यह बात अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर भी कही जा सकती है और देशी ज़मीन पर भी। दोनों ही जगहों के लोग क्या इतने साम्प्रदायिक या राष्ट्रीय हैं, जितने बना दिये गए हैं? यह घेराव कब टूटेगा और कब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी? चहारदीवारी तिरछी है तो कभी न कभी गिरेगी ज़रूर और उन सारी बातों का पर्दाफ़ाश करेगी जिनके द्वारा इसकी नींव रखी गई थी। फिर तो उनके लिए ऐसा कोई भी उत्तर न होगा जिससे अपनी बात और अपने आप को भी एक साथ लबादे पहना सके।

लोहिया ने इस स्थिति को ताड़ा ही नहीं समझा-सोचा और हमेशा की तरह इस बार भी स्पष्ट कहने का खतरा मोल लिया। दरअसल यही खतरे लोहिया के लिए पूंजी थे। उन्होंने दोनों सरकारों द्वारा बढ़ाये जा रहे मतभेद एवं गंदे प्रचार को देखते हुए कहा—मैं साफ़ कह देना चाहता हूँ, जो विचार “मैं आप के सामने रख रहा हूँ, वही मैंने लोकसभा में भी रखा था यह कहते हुए कि यह विचार सरकार के पैमाने पर आज शायद अहमियत नहीं रखता, मतलब हिन्दुस्तान की सरकार और पाकिस्तान की सरकार से इससे कोई मतलब नहीं, क्योंकि वे सरकारें तो गंदी हैं। इसलिए हिन्दुस्तान की और पाकिस्तान की जनता को चाहिए कि अब इस ढंग से वह सोचना शुरू करें। नये तरह की चीजें सोचना भी जरूरी होता है। मैं तो कम से कम इस बात के लिए तैयार हूँ। मैं नहीं जानता कि हर एक आदमी इस चीज को मान ले। सोचो इस पर, दूसरे तरीके निकल सकते हैं।”

उन्होंने इसका तरीका निकाला और यह तरीका भी हर बार से ज्यादा बड़ा खतरा था यह खतरा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को मिलाकर एक ‘महासंघ’ बना देना। ‘महासंघ’ बनाने से अन्य दूसरे जहाँ फायदे हैं वहाँ वर्तमान देश की सरकार को सबसे बड़ा खतरा है; क्योंकि फिर साम्प्रदायिकता को उभाड़कर वह अपनी बात नहीं बना सकेगा। वस्तुतः ‘महासंघ’ की नींव में ही इन चीजों को दबा देना होगा। बिना इसके महासंघ नहीं बन सकता। महासंघ बनाने में जो दोनों देशों को फायदे हैं उनमें से एक तो यह है कि आर्थिक व्यवस्था को मजबूत करने का मौका मिलेगा, शस्त्र संशय की होड़ का दबाव कम होगा। यों तो इससे होने वाले तो अन्य भी बहुत से फायदे हैं, पर महासंघ न बनने से १००१ घाटों में एक यह भी है कि—शस्त्र दौड़ में हम लोग लगभग विदेशी नियंत्रण में रहेंगे। खड़े होने की केवल पहचान होगी—पूरे पाँव भी अपने नहीं होंगे; यदि होंगे भी तो दूसरे चेत्रों के सारे विकास लगभग रुक जायेंगे और फिर दोनों ही देशों की जनता को ‘हिवाकुपा’ से मरने की नौबत आ जायगी; और आर्थिक व्यवस्था और भी जर्जर होती चली जायगी। फिर तो बेकारी, गरीबी, भुखमरी, अकाल, रोग, अराजकता, सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक दुरव्यवस्था—यह सब कुछ एक ही साथ और भी तेजी पर होंगे। सामने कोई लक्ष्य नहीं रहेगा—सिवा जीने के; और इस जीने में भी कितने ही अपनों की, अपने सिद्धान्तों की बलि चढ़ेगी, कहना कठिन है।

यह स्थिति कितनी भयानक होगी कहना कठिन है। सहसा अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। शायद इस अनुमान को लगाने की व्यवस्था—दोनों देशों की सत्तारूढ़ सरकारों के पास नहीं है। क्योंकि एक तो अपने हठ पर है और उसकी सारी व्यवस्था ही धर्म पर गलत दृष्टिकोण से आधारित है, पर दूसरा देश जो अपने को धर्म निरपेक्ष राज कहता है वह भी इस दिशा में सोचने या कुछ कर सकने को प्रयत्नशील क्यों नहीं होता? शायद इसलिए कि वर्तमान सरकार अपनी गति में किसी तरह परिवर्तन करना नहीं चाहती; भले ही किसी गलत नीति का परिणाम देश की पूरी आबादी को ही क्यों न भुगतना पड़े।

लोहिया को ‘महासंघ’ की व्यावहारिक कठिनाइयों का भी एहसास पूरी तरह था और वह इस बात को समझते थे कि इस पर कुछ भी सोचने के पहले देशी सत्तारूढ़ सरकार यह मान बैठेगी कि यह नितान्त असम्भव है। इसीलिए उन्होंने व्यावहारिक रूप से यह सुझाव भी क ख ग—१५

दिया कि—‘अगर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का ‘महासंघ’ बनता है तो जब तक मुसलमानों को या पाकिस्तानियों को तसल्ली नहीं हो जाती तब तक के लिए संविधान में कलम रख दी जाए कि इस महासंघ का राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री दो में से एक पाकिस्तानी रहेगा।’

वह यह समझते थे कि यह दोनों देशों के बीच स्थायी शान्ति और भाई चारे के लिए एक आवश्यक शर्त है। इसीलिए उन्होंने यह सूत्र भी दिया कि सारी टूटी हुई बातों को पुनः जोड़ा जा सके। वस्तुतः वह चाहते थे कि दोनों देशों की तीन और छे [३६] की उल्टी स्थिति को छे और तीन की [६३] की स्थिति में आमने-सामने लाया जाय। यही स्थिति दोनों ही अर्द्धविकसित देशों के लिए लाभदायक भी होगी। ऐसे इस चुनाव में यह फार्मूला केवल भारतीय हिन्दू-मुसलमान जनता के लिए ही काम में लाया गया; पूरे ‘महासंघ’ की बात को पूर्ववत् उपेक्षित रखा गया। लेकिन देखना है आखिर लोहिया द्वारा दिये गए इस हल को कब तक उपेक्षित रखा जा सकता है ?

किन्तु आज भी बहुत से लोग नहीं जानते हैं कि वे एक नयी सभ्यता और संस्कृति के द्रष्टा और रचयिता थे, कि उनका एक समग्र जीवन-दर्शन था जिसे आधुनिक-युग उपेक्षित नहीं कर सकता है। वास्तव में उनके विचार तथा कर्म शक्ति की राजनीति तक ही सीमित न थे; उन्होंने एक नयी सभ्यता के समस्त उपादानों पर गहराई से विचार किया है। राजनीति और अर्थशास्त्र में ही नहीं किन्तु इतिहास-दर्शन, समाज-दर्शन, कला-दर्शन, नीति शास्त्र, पुराण शास्त्र और भाषा शास्त्र में उनके मौलिक विचार हैं। उन्होंने आधुनिक मानव की समस्त बुनियादी समस्याओं का ऐसे ढंग से समाधान किया है जिसमें व्यक्तिगत-कल्पना का लेशमात्र संस्पर्श नहीं है और जो इतिहास की व्यक्ति-निरपेक्ष गति से अपने-आप सिद्ध होता है।

डॉ० लोहिया की विचार-पद्धति

संगमलाल पाण्डेय

डॉ० लोहिया एक मौलिक विचारक थे, इसको आज उनके मरने के बाद प्रायः सभी लोग मानते हैं। किन्तु आज भी बहुत से लोग नहीं जानते हैं कि वे एक नयी सभ्यता और संस्कृति के द्रष्टा और रचयिता थे, कि उनका एक समग्र जीवन-दर्शन था जिसे आधुनिक-युग उपेक्षित नहीं कर सकता है। वास्तव में उनके विचार तथा कर्म शक्ति की राजनीति तक ही सीमित न थे; उन्होंने एक नयी सभ्यता के समस्त उपादानों पर गहराई से विचार किया है। राजनीति और अर्थशास्त्र में ही नहीं किन्तु इतिहास-दर्शन, समाज-दर्शन, कला-दर्शन, नीति शास्त्र, पुराण शास्त्र और भाषा शास्त्र में उनके मौलिक विचार हैं। उन्होंने आधुनिक मानव की समस्त बुनियादी समस्याओं का ऐसे ढंग से समाधान किया है जिसमें व्यक्तिगत-कल्पना का लेशमात्र संस्पर्श नहीं है और जो इतिहास की व्यक्ति-निरपेक्ष गति से अपने-आप सिद्ध होता है।

स्पष्ट है कि डॉ० लोहिया के विचार का क्षेत्र बहुत व्यापक है। विस्तार, गुण, मात्रा तथा प्रकार में वह अनेकविध है। इस कारण बहुत से लोग उनको अन्तर्विरोधों या अन्तर्द्वन्द्वों का व्यक्ति मानते हैं। वे गांधी के सत्याग्रह और अहिंसा को मानते हैं किन्तु गांधीवाद का खंडन करते हैं; वे समाजवादी हैं किन्तु मार्क्स तथा उसके रूसी और चीनी अनुयायियों की आलोचना करते हैं; वे राष्ट्रवादी हैं किन्तु विश्व सरकार को साकार करने का प्रयत्न करते हैं; वे आधुनिक मानव हैं किन्तु आधुनिक सभ्यता को बदलने का संकल्प करते हैं; वे विद्रोही हैं किन्तु समस्त मानवता के प्रति समान करुणा तथा प्रेम रखते हैं; वे क्रान्तिकारी हैं किन्तु शान्ति के अनन्य उपासक भी हैं; वे मूर्तिभंजक हैं किन्तु अपनी राष्ट्रीय परम्परा को कायम रखते हैं; वे भौतिकवादी हैं किन्तु अध्यात्मवाद के आदर्श को हृदयंगम करते हैं और भौतिकवाद को अपर्याप्त पाते हैं, एवमादि। इन अन्तर्विरोधों के हेतु और फल को न समझने के कारण अधिकांश लोगों ने उनको उतनी गहराई से नहीं समझा जितनी अपेक्षा थी; इसी कारण उनके कथनों को किसी ने “उन्मत्त प्रलाप” समझा तो किसी ने ‘गैर-जिम्मेदार’; किसी ने उनको ‘स्वार्थ-प्रेरित’ माना तो किसी ने ‘कुंठा की अभिव्यक्ति’। किन्तु यदि गहराई से देखा जाय तो उनके समस्त विचारों, कथनों और कर्मों में एक ही सूत्र मिलेगा। इस सूत्र को न पकड़ने के कारण ही लोग उनके विचारों को अव्यवस्थित समझते हैं। यह सूत्र उनकी विचार-पद्धति है, सोचने का ढंग या तरीका है। यह ढंग सदा एक ही रहता है यद्यपि विषय बदलते रहते हैं, जैसे फूल बदलते रहते हैं और उनको गूँथने वाला सूत एक ही रहता है।

यहाँ हम इस विचार-पद्धति का ही वर्णन करेंगे और देखेंगे कि इस विचार-पद्धति से ही डॉ० लोहिया के समस्त विचार निष्कर्ष रूप से निकलते हैं।

विचार-पद्धति की विशेषताएँ

इस विचार-पद्धति की तीन विशेषताएँ हैं। पहली, यह भारतीय विचार-पद्धति है। दूसरी, यह समीक्षात्मक या आलोचनात्मक है। तीसरी, यह रचनात्मक है। इसके भारतीय विचार-पद्धति होने का कारण यह नहीं है कि डॉ० लोहिया भारतीय थे। आज कितने भारतीय केवल जन्मना भारतीय हैं और शेष सभी अर्थों में विदेशी हैं। डॉ० लोहिया की विचार-पद्धति इसलिए भारतीय है कि इसका आकार-प्रकार भारतीय अद्वैतवाद का ज्ञानमार्ग है। जिस प्रकार वैदिक काल से लेकर आज तक अद्वैतवादियों ने विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच से अपने सिद्धान्त को निकाला है, वैसे डॉ० लोहिया भी विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच से अपना सिद्धान्त निकालते हैं। दोनों प्रसंगों में सोचने या विचारने का तरीका एक ही है। और वह है दो विरोधी सिद्धान्तों का अविवाद या अविरोध प्राप्त करना। वेदान्त का उदाहरण लें तो सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद का आपस में विरोध है और इसलिए वे एक दूसरे से गलत सिद्ध हो जाते हैं; किन्तु दोनों का विवर्तवाद से अविरोध है और इसलिए कार्यकारणवाद के विषय में सच्चा मत विवर्तवाद है और सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद दोनों एकांगी तथा गलत हैं। इसी प्रकार डॉ० लोहिया ने दिखाया है कि पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों का आपस में विरोध है और अतः दोनों एकांगी तथा गलत हैं और इन दोनों का समाजवाद से कोई विरोध नहीं है। फिर समाजवाद और प्रजातन्त्र दोनों को यदि एक दूसरे से पृथक् किया जाय तो दोनों एकांगी और गलत सिद्धान्त हो जायेंगे; सही सिद्धान्त प्रजातान्त्रिक समाजवाद होगा। वास्तव में भारत के सभी समाजवादियों ने प्रजातान्त्रिक समाजवाद को मान्यता दी है। किन्तु यहाँ डॉ० लोहिया ने जिस रूप को रखा है वह बिलकुल निराला है। नेहरू ने भी प्रजातन्त्र और समाजवाद का समन्वय किया था; किन्तु उनका समन्वय आधा तीतर आधा बटेर था, वह अपने में पूर्ण इकाई न था। वह जैनियों के अनेकान्तवाद के अनुसार किया गया समन्वय था। फिर कुछ लोगों ने बौद्धों के विभज्यवाद या मध्यम मार्ग के अनुसार प्रजातन्त्र और समाजवाद दोनों को हटा दिया और दोनों से भिन्न एक तीसरे मार्ग का अवलंबन किया। इन लोगों ने जनसंघ की स्थापना की। कुछ लोगों ने केवल प्रजातन्त्र को लिया और स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की। कुछ लोगों ने केवल समाजवाद को लिया और साम्यवादी पार्टी बनाई। किन्तु डॉ० लोहिया ने प्रजातन्त्र और समाजवाद को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा और माना कि प्रजातन्त्र के बिना समाजवाद असंभव है तथा समाजवाद के बिना जनतन्त्र असंभव है। प्रजातन्त्र और समाजवाद की एकता आन्तरिक है और इस एकता की परख भारतीय समाजवादियों में सबसे अधिक डा० लोहिया ने ही की। यह उनके अद्वैतवाद का निष्कर्ष था। इसी के अन्य निष्कर्ष हैं समान अप्रासंगिकता का सिद्धान्त, विशेष अवसर का सिद्धान्त तथा समाजवाद का समूचा भारतीयकरण। वास्तव में डॉ० लोहिया का ही समाजवाद भारतीय समाजवाद है। उन्होंने ही समाजवाद को भारतीय रूप दिया है और उसका सीधा

सम्बन्ध भारत के भूगोल तथा इतिहास से कर दिया है। यह उनकी अद्वैतवादी विचार-प्रणाली थी जिसके कारण वे ऐसा कर सके।

किन्तु अद्वैतवादी प्रणाली का अद्वैतवादी प्रयोग केवल आत्मवाद को सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है। डॉ० लोहिया ने इसके प्रयोग को व्यापक बनाया। इसको उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयुक्त किया। भूततत्त्व और आत्मतत्त्व के अन्तर्विरोध को भी उन्होंने इसी प्रणाली से दूर किया : 'जहाँ तक आत्मा और भूततत्त्व (प्रकृति) का प्रश्न है, मुझमें उनमें कोई विरोध नहीं दीख पड़ता, सिवाय इसके कि आमतौर से मुझे भौतिकवादियों के बीच परेशानी होती है, जब मैं अध्यात्मवादी होना चाहता हूँ और अध्यात्मवादियों बीच भी उतना ही परेशान होता हूँ जब मैं एक भौतिकवादी के समान सोचने लगता हूँ। ये द्वन्द्व आधुनिक मानस के भयंकर रोग हैं, जिसने कुछ विचार रूपी राक्षसों को जन्म दिया है और जिनको मारने में वह असमर्थ है। ये द्वन्द्व इसलिए उत्पन्न हुए हैं कि अपरोक्ष-अनुभूति की उपेक्षा की जाती है।' (ह्वील ऑफ हिस्ट्री पृ० ७३)। यहाँ डॉ० लोहिया शंकर और स्पिनोजा की भाँति एक वस्तु को मानते हैं जिसे आत्मा और प्रकृति दोनों कहा जा सकता है किन्तु वास्तव में जिसका अनुभव अपरोक्ष है और इसलिए जिसे आत्मा अथवा प्रकृति दोनों में से कोई एक कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा पर प्रकृति परोक्ष अनुभव के विषय हैं।

यद्यपि डॉ० लोहिया की प्रणाली अद्वैतवादी है तथापि वह प्राचीन अद्वैतवाद के द्विविध सत्य से दूर है। शंकराचार्य ने परमार्थ-सत्य तथा व्यवहार-सत्य को समन्वित किया था। डॉ० लोहिया इस समन्वय को गलत मानते हैं। वे व्यवहार के भेद को अद्वैत के सन्निकट लाने का प्रयास करते हैं। किन्तु यदि गहराई से देखा जाय तो यहाँ शंकराचार्य तथा डॉ० लोहिया में कोई अन्तर नहीं है। शंकराचार्य ने व्यवहार के भेद को उचित ठहराने के लिए उसको परमार्थ की एकता पर नहीं खड़ा किया था; व्यवहार भेद के औचित्य या अनौचित्य में उनकी अरुचि थी। उन्होंने परमार्थ की एकता को सिद्ध करने के लिए व्यवहार-भेद को परमार्थ पर आश्रित दिखलाया था। किन्तु परमार्थ की एकता व्यवहार में नहीं लाई जा सकती है, इसे शंकराचार्य तथा डॉ० लोहिया दोनों मानते हैं। दोनों चाहते हैं कि जितना संभव हो सके उतना व्यवहार को परमार्थ के समीप ले जाना चाहिए। आध्यात्मिक साम्यवाद तथा सम-दर्शन को शंकराचार्य ने मान्यता दी थी; डॉ० लोहिया ने संभव बराबरी और संपूर्ण बराबरी में भेद किया है और आध्यात्मिक एकता को मानवता का लक्ष्य माना है। दोनों ने आध्यात्मिक एकता को तथा व्यावहारिक असमानता को माना है। किन्तु डॉ० लोहिया ने व्यावहारिक असमानता को यथासंभव कम करने का मार्ग सुझाया है और शंकराचार्य ने इस ओर कोई रुचि नहीं दिखलाई है। इस दृष्टि से डॉ० लोहिया ने अद्वैतवादी शंकराचार्य के सिद्धान्त का भी एक सराहनीय विकास किया है। डॉक्टर ने आचार्य से बढ़कर उसका अधिक व्यापक प्रयोग ही नहीं किया है वरन् स्वयं आचार्य के द्वारा छोड़ दिए गए सिद्धान्तों को भी उसके अनुरूप किया है।

वास्तव में अद्वैतवादी प्रणाली एक समीक्षात्मक दृष्टि है; वह मत या विमत न होकर एक सम्मत है; वाद या विवाद न होकर अविवाद है; पक्ष या प्रतिपक्ष न होकर सत्पक्ष है।

इसके प्रयोग के पूर्व अनेक मतों और विमतों की जानकारी तथा उनसे असन्तोष आवश्यक है। डॉ० लोहिया आधुनिक मनीषी हैं; किन्तु वैसे आधुनिक मनीषी नहीं जो रहते तो आधुनिक काल में हैं और विचार तथा चिन्तन करते हैं प्राचीन काल की समस्याओं का। वे आधुनिक काल की समस्याओं का चिन्तन करते हैं; उनके समस्त समाधानों का परिचय प्राप्त करते हैं और उनका परीक्षण करते हैं; अन्त में वे उनका दोष दिखाते हैं और उन समस्याओं का अभिनव समाधान देते हैं।

उन्होंने गाँधीवाद और मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन और विश्लेषण किया। किन्तु दोनों से उनको समाधान न मिला। दोनों को उन्होंने अपर्याप्त पाया। गाँधीवाद प्रतिक्रियावादी सिद्ध हुआ और मार्क्सवाद अनैतिहासिक, इतिहास की सतत गति से दोनों तिरस्कृत कर दिये गए। किन्तु दोनों ने साधारण जनता के उत्थान और संपन्नता पर बल दिया। दोनों का युगीन महत्त्व था। मार्क्स के बाद गाँधी और गाँधी के बाद डॉ० लोहिया एक चित्र हैं। मार्क्स पश्चिमी योरोप के प्रतीक हैं और गाँधी पूर्व या भारत के प्रतीक हैं। पश्चिम-पूर्व का द्वन्द्व कभी अवश्य दूर होगा; दोनों के सामान्य तत्त्व की प्रगतिशीलता मानवता का प्रतीक है। यदि डॉ० लोहिया को यह प्रतीक माना जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी उनका सारा विचार-दर्शन मानवता के दृष्टिकोण से किया गया था; उसमें कहीं पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, काले-गोरे, अमीर-गरीब, विकसित राष्ट्र-अविकसित राष्ट्र, शोषक-शोषित, नर-नारी, आदि द्वन्द्वों के किसी एक या दूसरे अन्तर्गतत्व पर बल न था। वे इन समस्त द्वन्द्वों को दूर करना चाहते थे।

समीक्षात्मक प्रणाली की पहली मान्यता है कि सभी मत एकांगी हैं। इसलिए डॉ० लोहिया को किसी मत से सन्तोष न हुआ। सभी मत उनको एकांगी लगे। जब वे किसी विषय पर विचार करते हैं तब वे उस विषय की पूरी जानकारी रखते हैं; उसके संबंध में जितने सिद्धान्त रहते हैं उनको वे सहानुभूतिपूर्वक रखते हैं। फिर उनको वे एक दूसरे के विरुद्ध रखते हैं; इससे उनको उनकी कमियों का पता चलता है, खासतौर से उनके एकांगीपन का, तब वे प्रश्न करते हैं कि आखिर सही सिद्धान्त क्या है? वे केवल एक समीक्षक ही नहीं अपितु एक सृष्टा भी हैं। इसलिए अन्त में वे अपना मत देते हैं।

यह मत उनकी सृजनात्मक शक्ति का परिचायक है। विचार को वे गतिशील मानते हैं और कोशिश करते हैं कि वे स्वयं उसको कुछ त्वरित करें। वे कभी विश्लेषण के लिए विचार नहीं करते हैं; उनके विचार करने का सर्वदा एक ही प्रयोजन रहता है और वह है विचार को प्रगतिशील करना, अभी तक जितना विचार विभिन्न मनीषियों द्वारा किया गया है उसको एक कदम और आगे बढ़ाना। उदाहरण के लिए जाति-व्यवस्था पर अनेक लोगों ने विचार किये हैं, पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु उनका रचनात्मक महत्त्व नहीं है। उनसे जाति-व्यवस्था के बने रहने या बिगड़ने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु डॉ० लोहिया ने जाति-व्यवस्था पर जो विचार किया और जो कुछ लिखा उसका रचनात्मक महत्त्व है। वह जाति-व्यवस्था को तोड़ने में योगदान दे रहा है। इस ओर गौतम बुद्ध, कबीर, गाँधी और डॉ० लोहिया का एक चक्रव्यूह है। इन चारों ने जाति व्यवस्था के उन्मूलन में योग दिया।

किन्तु इन चारों में डॉ० लोहिया का विचार सबसे अधिक मूलानुग्राही है। उन्होंने दिखाया कि जाति-व्यवस्था भारत में ही नहीं किन्तु किसी-न-किसी रूप में विश्व भर में है और सब जगह से इसका उन्मूलन अपेक्षित है। वे यह भी जानते हैं कि इस बद्धमूल व्यवस्था का उन्मूलन सहसा नहीं हो सकता है। इसलिए वे पहले इसके उन्मूलन की और केवल गतिशीलता उत्पन्न करते हैं, पहले उस संतुलन को भंग करते हैं जो जाति-व्यवस्था के कारण स्थिर रहता है। जब यह संतुलन टूटता है, जातियों का परिवर्तन होता है, तब उसकी गति को चारों ओर बढ़ाना होगा और इससे वह अन्त में टूट जायेगी। गौतम बुद्ध, कबीर और गाँधी जाति-व्यवस्था को तोड़ने में असफल हुए क्योंकि उन्होंने इसके राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक तथा सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक, धार्मिक तथा तात्त्विक आदि रूपों का निदान नहीं किया था। डॉ० लोहिया भी इस व्यवस्था को तोड़ने में असमर्थ हुए हैं; किन्तु जब कभी यह व्यवस्था टूटेगी। तब वह उन्हीं के विचारों के मार्ग से टूटेगी। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था को तोड़ने में उनका वही स्थान होगा जो स्थान मार्क्स का साम्यवाद की स्थापना में हुआ है। उन्होंने जाति-व्यवस्था की व्यापकता तथा विविधता का वर्णन किया है; उसके समस्त हेतुओं का निदान किया है, और अन्त में सभी सम्भव उपायों को गिनाया है जिनसे यह व्यवस्था टूट सकती है। यह उल्लेखनीय है कि यदि इसमें किसी एक पहलू को छोड़ दिया जायेगा तो यह व्यवस्था टूट नहीं सकती है।

जैसे डॉ० लोहिया का जाति-विषयक चिन्तन अधिक रचनात्मक है वैसे भाषा-विषयक चिन्तन भी। उन्होंने हिन्दी तथा भारत की अन्य भाषाओं के विकास के प्रसंग में मौलिक तथा रचनात्मक चिन्तन किया है। हम यहाँ केवल हिन्दी का उदाहरण लेते हैं। हिन्दी में उन्होंने अनेक प्रचलित शब्दों और मुहावरों को निखार कर साहित्य में प्रविष्ट किया है। किन्तु इधर उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने हिन्दी को प्रगतिशील बनाया है। हिन्दी के विचारक और लेखक या तो पश्चिम के साहित्यकारों और दार्शनिकों की नकल करते हैं और उनके विचारों की चोरी करते हैं और या तो वे अपने पुराने भारतीय साहित्यकारों और दार्शनिकों का भाष्य करते हैं। आज का अधिकांश हिन्दी साहित्य नकल और प्रतिक्रियावाद से भरा है और इस कारण उसमें निरर्थक शब्दों का आडम्बर है और चिन्तन-शक्ति की अभिव्यक्ति का अभाव है। ऐसी परिस्थिति में डॉ० लोहिया ने हिन्दी को एक धारावाहिक भाषा बनाया और उसमें सरल से सरल शब्दों द्वारा उच्च से उच्च या गम्भीर से गम्भीर और नये-नये विचार व्यक्त किये। जब पहली बार संसद् में उन्होंने हिन्दी में भाषण दिया तब लोगों ने खासतौर से विदेशी पत्रकारों ने समझा कि आज हिन्दी राष्ट्रभाषा हुई है, क्योंकि उनको डॉ० लोहिया के विचारों को प्रकाशित करने के लिए पहली बार एक संसद भाषण का हिन्दी से अनुवाद करना पड़ा था। सामान्यतः भारत में लोग अंग्रेजी को प्रगति और चिन्तन की भाषा और हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं को प्रतिक्रियावाद तथा बुद्धूषण की भाषा मानते हैं। इस पर डॉ० लोहिया कहते हैं : 'यह कितनी खतरनाक हालत है कि अपनी भाषाएँ प्रतिक्रियावाद की, और विदेशी भाषाएँ प्रगति की प्रतीक समझी जाती हैं। कई लोग सिर्फ इसी वजह से खुल कर हिन्दी की हिमायत नहीं कर पाते कि कहीं वे प्रगति के दुश्मन न समझ क ख ग—१५

लिये जाएँ । '...ये लोग हिन्दी का पल्ला जनेऊ और चोटी धारियों के साथ जोड़ देते हैं । मैं अंग्रेजी के खिलाफ हूँ पर जनेऊ-चोटी के भी । आप देख रहे हैं कि मैं तनिक भी इस बात का ध्यान नहीं कर रहा हूँ कि मेरे शब्द किस-किस भाषा से आ रहे हैं । केवल इस बात का ध्यान जरूर है कि उनकी ध्वनि मेरी भाषा में खप जाए । समझदार आदमी इसकी बिल्कुल परवाह नहीं करते कि भाषा की दौलत कहाँ से आकर इकट्ठी हो रही है । सिर्फ देखते हैं कि भाषा में नये शब्द घुल मिल गये कि नहीं । मैं आपको एक सिद्धान्त की बात बताता हूँ कि बेपढ़े लोग पढ़े हुए लोगों की बनिस्बत भाषा अच्छी बनाते हैं । वह दूसरी भाषा के शब्दों को अपनी भाषा के अनुरूप बना लेते हैं, जब कि पढ़े-लिखे लोग केवल नकल करते हैं ।' (संभव और संपूर्ण बराबरी पृ० २३, २५) ।

स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा की प्रतिभा को डॉ० लोहिया ने पहिचाना और उसको और अधिक रचनात्मक बनाया । जहाँ एक ओर वह प्रतिक्रियावादी बनी थी और दूसरी ओर वह नकलचियों के वाग्जाल में फँसी थी, वहाँ डॉ० लोहिया ने उसको उन्मुक्त करके मौलिक विचारकों की भाषा बनाने का प्रयास किया । उनकी ही परम्परा में अधिकांश हिन्दी के लेखक आज इस काम को और आगे बढ़ा रहे हैं । नयी कविता और नव लेखन का साहित्य इसका उदाहरण है ।

अपरोक्ष अनुभव

डॉ० लोहिया की विचार-पद्धति को संक्षेप में समीक्षात्मक और रचनात्मक अन्तर्दृष्टि की प्रणाली कहा जा सकता है । उसके समीक्षात्मक और रचनात्मक रूप का परिचय ऊपर दिया जा चुका है । अब केवल यह दिखाना है कि वह एक अन्तर्दृष्टि है । यह अन्तर्दृष्टि अपरोक्ष अनुभव है, अर्थात् यह इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष नहीं है । डॉ० लोहिया अनुभववादी या इन्द्रियानुभववादी नहीं थे । वे कुछ बुद्धिवादी और कुछ प्रातिभज्ञानवादी थे । उनके दृष्टि-कोण को अपरोक्षवाद कहा जा सकता है । वे बुद्धि और प्रातिभज्ञान के समुच्चय को नहीं मानते थे; किन्तु उस बुद्धि को जो अपरोक्ष अनुभव बन जाती है (प्रातिभ बुद्धि) या उस अपरोक्ष अनुभव को जो बौद्धिक बन जाता है (बौद्धिक प्रतिभाव) । वे केवल मानते ही नहीं थे, वरन् वही उनके विचार का प्रस्थान-बिन्दु था । प्रायः प्रातिभज्ञान से आत्मा को ज्ञान प्राप्त किया जाता है और इसका प्रयोग रहस्यवादी करते हैं । किन्तु डॉ० लोहिया ने इसका प्रयोग यथार्थ वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये किया । उनके लिए यह समग्र-ग्राहिणी प्रतिभा थी; वह अखण्ड चेतना जो समस्त विषयों को परस्पर-संबंधित देखती है । एक जगह वे कहते हैं : 'जब मनुष्य अपने को जान जाता है, चाहे जब वह अपने को जाने, तब समग्र से पृथक् होने पर वह दुःखी होता है और इसके साथ उसे अपने आत्म-ज्ञान पर एक आनन्द-बोध होता है और तब वह सोचना शुरू करता है कि वह कैसे समग्र से अपने को संयुक्त करे । इस प्रकार प्रयोजनों की खोज शुरू होती है ।' (ह्वील आव् हिस्ट्री, पृ० ३) । इस खोज से मनुष्य अपने को समग्र से संबंधित करता है । वह पूर्ण बनने का प्रयास करता है ।

वास्तव में समस्त-मूल्य-बोध में यह अपरोक्ष अनुभव व्याप्त है । इसके बिना मूल्य-

बोध असंभव है। डॉ० लोहिया इस अनुभव को मनुष्य का लक्षण मानते हैं; ठीक वैसे ही जैसे माना जाता रहा है कि यह ज्ञान मनुष्यों को पशुओं से भिन्न करता है (वही पृ० ३)।

इस अनुभव की कुछ विशेषताएँ हैं। (१) यह मानव की समस्त चेतना को अखंड सिद्ध करता है। जो लोग मानव चेतना को ज्ञान, भावना तथा इच्छा के तीन पृथक्-पृथक् खंडों में बाँटते हैं, जैसे कांट तथा शक्ति-मनोविज्ञान के प्रवर्तकगण वे वास्तव में अयथार्थ चित्रण करते हैं। मानव चेतना अखंड है। उसमें ज्ञान तथा इच्छा का द्वैत नहीं है; या उसमें ज्ञान, भावना तथा इच्छा का त्रैत नहीं है; वह एक और अविभाग है। (२) उसका विषय मूल्यानुबिद्ध है। कोई ऐसा तथ्य नहीं है जो मूल्य न हो। मूल्य और तथ्य का द्वैत कोरी कल्पना है। (३) यह अनुभव स्वतः प्रमाण है। इसको परतः प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। “अपरोक्षता का सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक कर्म का औचित्य उसी में निहित रहता है और आज तथा यहाँ जो किया जाता है उसके औचित्य के लिए उसके बाद किये जाने के कर्म को लाने की आवश्यकता नहीं है” (वही, पृष्ठ ७७)। डॉ० लोहिया इस अपरोक्षता-सिद्धान्त को प्रत्येक कर्म तथा ज्ञान की कसौटी मानते हैं। (४) यह अनुभव एक और समस्त विषयों का ज्ञान है और दूसरी ओर स्वयं अपने में एक इकाई है। इस अर्थ में पहले के दार्शनिक मानते रहे हैं कि यह ईश्वर का साक्षात्कार है। डॉ० लोहिया इसके नामकरण पर बहस नहीं करते; ईश्वर को समस्त विषयों का अनुभवकर्त्ता मानना उनकी दृष्टि में एक गौण समस्या है। यहाँ मुख्य समस्या है कि समस्त विषयों का अनुभव एक दृष्टि से किया जा सकता है और डॉ० लोहिया इसको संभव ही नहीं वरन् यथार्थ भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में समस्त विषयों को बेधने की शक्ति थी। यद्यपि वे ईश्वर को नहीं मानते थे तथापि वे मानव चेतना को सर्वग्राही या सर्वज्ञ मानते थे। इस प्रसंग में उनका मत बहुत-कुछ-अद्वैतवाद के समान है जो ईश्वर को परमार्थतः असत् मानता है और एकमात्र सर्वग्राहक आत्मा को ही सत् मानता है।

अपरोक्ष अनुभव की इन विशेषताओं का प्रतिफलन था कि डॉ० लोहिया कर्म और ज्ञान में भेद नहीं करते थे। कर्म और ज्ञान दोनों क्षेत्रों में वे सत्याग्रही थे; उनकी कथनी और करनी एक थी और दोनों में सिविल नाफरमानी की शाश्वत मान्यता थी। ज्ञान में सिविल नाफरमानी का मतलब है कि किसी सिद्धान्त को सत्य मत मानो, सर्वत्र संशय करो और अपना मार्ग स्वयं खोजो। कर्म में सिविल नाफरमानी का मतलब है कि अन्याय को मत सहो, विद्रोह करो और आन्दोलन करो। संशय और विद्रोह के द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है, चाहे वह ज्ञान का सत्य हो या कर्म का। विद्रोह में संशय का समावेश है और संशय में विद्रोह का समावेश नहीं है। इसलिए केवल विद्रोह के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। कामू के समान डॉ० लोहिया भी इस सिद्धान्त को मानते हैं कि “मैं विद्रोह करता हूँ इसलिए मैं सत् हूँ।” (I rebel, therefore, I exist)। सिविल नाफरमानी को शाश्वत मानने का यही अभिप्राय है कि आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन विद्रोह से होता है और जो विद्रोह नहीं करता वह जड़ है।

जिस ज्ञान पर आचरण हो सके वही सच्चा ज्ञान है और जिस कर्म का औचित्य क ख ग—१५

अपरोक्षता-सिद्धान्त से किया जा सके वही सच्चा कर्म है। कर्म ज्ञान है और ज्ञान कर्म है। दोनों में भेद करने के कारण अनेक अनर्थ, विषमताएँ तथा अत्याचार हुए हैं। इन सब अनर्थों, विषमताओं तथा अत्याचारों को समाप्त करने के लिए कर्म तथा ज्ञान की एकता का प्रतिपादन करता है। व्यवहार में इसका अर्थ होगा कि श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के भेद को दूर करना है और प्रत्येक मनुष्य को श्रम तथा बुद्धि का ठीक समन्वय करना है। यही नहीं, श्रम तथा बुद्धि का एक समान मूल्यांकन करना है और उनके मूल्यांकन-भेद को मिटाना है।

सांख्यिकीय अनुमान

डॉ० लोहिया की समीक्षात्मक और रचनात्मक अन्तर्दृष्टि पूर्णतः बौद्धिक थी। वे अबुद्धिवादी नहीं थे।

अतः अपरोक्ष अनुभव की अन्तर्दृष्टि से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका समर्थन ज्ञान के अन्य प्रकारों से, परोक्ष ज्ञान से, भी संभव है। ज्ञान के ये अन्य प्रकार अखण्ड चेतना को कुछ खण्डों में बाँटने से होते हैं। ये विषयों को उनकी समग्रता में न रखकर उनको पृथक् रूप से प्रदर्शित करते हैं। इन प्रकारों में निरीक्षण, अनुमान और सांख्यिकीय अनुमान मुख्य हैं। वैसे सांख्यिकीय अनुमान अनुमान के ही अन्तर्गत है; किन्तु यहाँ इसका पृथक् उल्लेख इसलिए किया गया है कि डॉ० लोहिया की विचार-प्रणाली में सामान्य अनुमान की अपेक्षा इसका ही विशेष प्रयोग है।

सांख्यिकीय अनुमान के द्वारा डॉ० लोहिया ने लोक-सभा में सिद्ध किया था कि २७ करोड़ भारतीयों की रोजाना आमदनी केवल तीन आने है और उनके इस कथन को लोकसभा ने मान लिया था। फिर इसी के द्वारा उन्होंने १९६२ के आम चुनाव के पहले सिद्ध किया था कि इस चुनाव के बाद भारत में अधिकांश राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनेंगी। यह भविष्यवाणी चुनाव के बाद बिलकुल सही उतरी। आमतौर से डॉ० लोहिया सांख्यिकीय विधि का प्रयोग अपने अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में करते थे।

उनकी सांख्यिकीय विधि प्रचलित सरकारी, विशेषतः कांग्रेसी, विधि से भिन्न थी। कभी-कभी दोनों के तथ्य वही होते थे; किन्तु फिर भी निष्कर्ष भिन्न होते थे। उदाहरण के लिए तीन आने वाले सवाल पर पं० नेहरू का कहना था कि प्रत्येक भारतीय की रोजाना आमदनी पन्द्रह आने है। यहाँ डॉ० लोहिया और पं० नेहरू के सामने एक ही तथ्य थे; किन्तु दोनों के निष्कर्ष भिन्न थे। डॉ० लोहिया ने सिर्फ कम आमदनी वाले २७ करोड़ आदमियों को छोटा और उनकी रोजाना की आमदनी निकाली जो तीन आने हुई। पं० नेहरू ने सभी भारतीयों की आमदनी का रोजाना औसत पन्द्रह आने बताया था। इसका अर्थ वे लगाते रहे कि हर आदमी कम से कम पन्द्रह आने रोज कमा लेता है। किन्तु जब डॉ० लोहिया ने २७ करोड़ आदमियों की रोजाना आमदनी केवल तीन आने बताया तब उनको भारतीय गरीबी का एहसास हुआ और पहले वे इसे मानने से इनकार करते रहे। किन्तु अन्त में उनके सरकारी आँकड़ों से ही डॉ० लोहिया की बात सिद्ध हुई और तब उन्होंने अनिच्छापूर्वक स्वीकार

किया कि भारतवर्ष उनके प्रधान मंत्रित्व के काल में कितना गरीब हुआ है।

सांख्यिकीय विधि का प्रयोग डॉ० लोहिया साधारण जनता के हित में करते थे; वे जन-साधारण के जीवन को सम्पन्न करने में लगे थे और समृद्ध पूँजीपतियों के जीवन-स्तर को गिराना चाहते थे; इसलिए उन्होंने जो सांख्यिकीय अनुमान किया है उससे सिद्ध होता है कि कैसे समृद्ध राष्ट्र, समृद्ध पूँजीपति, अधिक धनी होते चले जा रहे हैं और गरीब राष्ट्र, गरीब आदमी, दिन-प्रति-दिन और गरीब होते चले जा रहे हैं।

उन्होंने सांख्यिकीय विधि से सिद्ध किया कि साम्यवाद से भारत अपने रोटी के सवाल को हल नहीं कर सकता है जैसे रूस ने हल किया है, क्योंकि रूस में प्रति वर्गमील में २० आदमी भी नहीं रहते हैं और भारत में प्रति वर्गमील में ३०० से भी अधिक आदमी रहते हैं। यदि ३० बनाम ३०० को अच्छी तरह से समझा जाय तो २० जनों के लिए किया गया सामुदायिक विकास का सिद्धान्त ३०० जनों के लिए सत्य होगा, इसमें सन्देह होगा। वास्तव में यह सन्देह इतना बड़ा है कि साम्यवाद भारत में रोटी के सवाल को हल नहीं कर सकता है। २० बनाम ३०० में १५ गुने उत्पादन की आवश्यकता है जिसे साम्यवाद पूरा नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार डॉ० लोहिया ने अपने प्रत्येक सिद्धान्त को प्रायः सांख्यिकीय अनुमान से सिद्ध किया है। संभव है कभी उनको अपने सिद्धान्त का प्रथम उन्मेष सांख्यिकीय अनुमान से ही हुआ हो; किन्तु लगता है कि सांख्यिकीय अनुमान उनकी समीक्षात्मक और रचनात्मक अन्तर्दृष्टि का सहकारी प्रमाण बनकर आता है जैसे उनके विचारों की पौराणिक प्रतीकों से व्याख्या। किन्तु जहाँ विचारों की अमूर्तता में उनके सिद्धान्त अस्पष्ट होते प्रतीत होते हैं वहाँ सांख्यिकीय अनुमानों तथा पौराणिक प्रतीकों द्वारा वे अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं। यह स्पष्टता स्वयं अपने में एक बड़ा मूल्य है।

डॉ० लोहिया सांख्यिकीय का प्रयोग प्रगति के उद्देश्य से करते हैं। इसके द्वारा वे दिखाते हैं कि कितनी प्रगति हुई, कितना पतन हुआ और अब क्या करना है। इसलिए उनको एकदेशीय और एककालीन आँकड़े ही नहीं वरन् सभी देशों के और यथासंभव सभी कालों के आँकड़े चाहिए। इससे आँकड़ों का सिद्धान्तों से सम्बन्ध भी जान लिया जाता है और उनकी सत्यता या असत्यता प्रतिपादित होती है तथा एक विचार-सूत्र और कर्तव्य-सूत्र भी मिलता है।

जन-जिज्ञासा का उभार

डॉ० लोहिया को बुद्ध, सुकरात और कनफूसियस से बड़ी प्रेरणा मिलती थी। वे स्वयं उन्हीं के समान घूम-फिरकर प्रवचन देते थे। उनका समग्र दर्शन न तो किसी कक्षा-कक्ष में बना, न किसी विश्वविद्यालय या संग्रहालय के कमरे में और न किसी एकान्त गुफा में। उन्होंने उसको अपने जन-जीवन में, जन-सभाओं में, जेलों और बाजारों में, गलियों और सड़कों पर, रेलगाड़ी के डिब्बों और मोटरकारों में, काँफी हाउसों और होटलों में बनाया। इसका फल यह हुआ कि उनका दर्शन बहुत-कुछ जनता के संभाषण से बना।

जनता ने उनसे प्रश्न किया और उन्होंने उत्तर दिया या उन्होंने जनता से प्रश्न किया, और जनता ने उत्तर दिया। इन प्रश्नोत्तरों का उनके दर्शन के निर्माण में काफी योगदान रहा है।

उन्होंने वास्तव में जन-दर्शन किया था और जनता ने उनका दर्शन किया था। दोनों ने एक दूसरे के अन्तःस्तल को भेदा था। यही कारण था कि डॉ० लोहिया जन-प्रिय थे, जन-नायक थे। उनके अनुयायी अधिक थे क्योंकि वे लोग उनकी बातों को अपनी ही बात मानते थे और उन्हें केवल अपना मुखबिर समझते थे।

उन्होंने जनता को नये सिरे से प्रश्न करना सिखाया। राजनीति और समाज-शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों की ऐसी सरल व्याख्या की कि जनता स्वयं राजनीति और समाज-शास्त्र को समझने लगी। जैसे कबीर ने अध्यात्मवाद के बारे में जनता को प्रश्न करना तथा उत्तर देना सिखाया था वैसे डॉ० लोहिया ने इस युग में साधारण जनता को, खासतौर से बे-पढ़े लोगों को राजनीति और समाज-शास्त्र के बारे में प्रश्न करना और उत्तर देना सिखाया। बड़े लोग कौन हैं? छोटे लोग कौन हैं? अधिक-से-अधिक आमदनी क्या हो? कम-से-कम आमदनी क्या हो? अन्याय से कैसे लड़ें? अंग्रेजी को कैसे हटाएँ? दामों की लूट क्या है? दामों को कैसे रोकें? जातिवाद को कैसे खत्म करें? बड़ों और छोटों में बराबरी कैसे लायें? भारत और चीन की सीमा क्या हो? हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का एका कैसे हो? भूमि-समस्या कैसे हल हो? गाँवों की दशा कैसे सुधरे? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं जिनको डॉ० लोहिया ने जनता को सिखाया है। उन्होंने जनता में स्वतन्त्रता और समता, निडरता और लड़ाकूपन भर दिया है। यद्यपि इसकी मात्रा उनके हिसाब से अभी नगण्य ही है तथापि इसी को लेकर उनके विरोधी प्रायः कहते हैं कि डॉ० लोहिया और उनके अनुयायी गुण्डे हैं। किन्तु विद्रोह का दर्शन जिन्हें अभीष्ट है उनके लिए यह आलोचना बे-मतलब है; हर विद्रोही को निहित स्वार्थ वाले गुण्डा कहा करते हैं किन्तु जब उसका विद्रोह सफल हो जाता है तब वे ही सबसे पहले उसको फूलमाला पहनाते हैं।

यद्यपि डॉ० लोहिया के विचारों के अनुसार अभी देश-दुनियाँ का निर्माण नहीं हुआ है तथापि इतनी उपलब्धि क्या कम है कि लाखों लोगों के मन में वे अंकित हैं और ये लोग उनको क्रियान्वित करने में सचेष्ट हैं? उनके विचार मानवता की थाती हैं। किन्तु उनकी विचार-शैली मेरी समझ से उनके विचारों से भी बढ़कर है। यदि इस शैली को पकड़ लिया जाय तो आज डॉ० लोहिया के निधन से उत्पन्न हुए अभाव को दूर किया जा सकता है।

नव्य-दर्शन

डॉ० लोहिया की विचार-प्रणाली एक नव्य-दर्शन से सम्बन्धित है। यह दुर्भाग्य है कि भारत के दार्शनिक उनको दार्शनिक नहीं समझते हैं। वास्तव में भारत के दार्शनिक या तो पश्चिमी दार्शनिकों की नकल और चोरी करते हैं और या तो पुराने भारतीय दार्शनिकों के विचारों का भाष्य करते हैं। इस प्रकार वे भारत में नव्य-दर्शन के बीज बोने में अभी तक असफल रहे हैं। किन्तु उनका सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि वे डॉ० लोहिया—जैसे

दार्शनिकों की पहिचान भी नहीं कर सके हैं। हम अपने दार्शनिकों की पहिचान करना कब सीखेंगे ?

इतिहास-दर्शन पर डॉ० लोहिया ने अपनी दृष्टि स्वयं दी है जो उनके ग्रन्थ 'ह्वील आन्ड हिस्ट्री' (इतिहास-चक्र) में व्यक्त है। समाज-दर्शन और राजनीति-दर्शन पर भी उनके विचार बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट हैं और कई लेखों तथा ग्रन्थों में मिल जायेंगे। सामाजिक दर्शन और इतिहास-दर्शन आधुनिक युग में दर्शन-शास्त्र की महत्वपूर्ण विधाएँ हैं। केवल इनको ही मौलिक चिन्तन करने के कारण डॉ० लोहिया को दार्शनिकों की कोटि में आसानी से रखा जा सकता है। परन्तु क्या भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शन-शास्त्र को पढ़ने तथा पढ़ाने वाले इस ओर ध्यान देंगे ? क्या वे सोचेंगे कि आज भारत में भी मौलिक इतिहास-दर्शन और समाज-दर्शन का निर्माण करने वाले हैं ? वे डॉ० लोहिया की उपेक्षा कब तक करेंगे ?

वास्तव में डॉ० लोहिया की विचार-पद्धति एक नव्य-दर्शन की अवतारणा करने की सामर्थ्य रखती है। उन्होंने मानव का एक नव्य संप्रत्यय दिया है। उन्हीं के शब्दों में यह 'मानव, व्यक्तिगत रूप से और समूह में, अन्त्याय के विरुद्ध सिविल नाफरमानी का प्रयोग जानेगा। वह इतिहास तथा कथा का, गतिशीलता तथा नित्यता का, समन्वय जानने की चेष्टा करेगा। सन्तुलन और संघर्ष का समन्वय करके वह अपने व्यक्तित्व को पूर्ण बनायेगा तथा शान्तिमय क्रियाशीलता की नयी सम्यता में भाग लेगा। ह्वील आव् हिस्ट्री पृ० ८६७।' क्षण और नित्यता, क्रियाशीलता और शान्ति का समन्वय करने वाला ही मानव डॉ० लोहिया का आदर्श है। उन्होंने जिस आदर्श को सामने रखा है शायद उसको प्राप्त भी किया था, क्योंकि उनके तथा कर्म को विचार जानने वाले जानते हैं कि उनका क्षण-बोध नित्यता-बोध था और नित्यता-बोध क्षण-बोध था, उनकी क्रियाशीलता शान्ति थी और शान्ति क्रियाशीलता थी। ऐसा बहुत कम हुआ है कि दार्शनिक या विचारक अपने आदर्श को अपने ही जीवन में उपलब्ध कर लें।

दल-परिवर्तन : जनतंत्र

प्रकाश चन्द्र शास्त्री

हमें दल-परिवर्तन को अचानक 'अनैतिकता की बाढ़' या सत्ता लोलुपता अथवा स्वार्थ-परकता के उदय के रूप में ही नहीं देखना है। वरन हमें इस समस्या की पृष्ठ भूमि राजनीति का भारतीयकरण और स्थानीय दल-निर्माण प्रक्रिया के रूप में जांचना है।

सर्वप्रथम जो तथ्य हमारी आंखों से ओझल हो जाता है, वह यह है, कि एक दलीय प्रभुत्व यानी कांग्रेस एक राजनैतिक व्यवस्था से मुक्ति पाई है।¹ (यह स्मरणीय है कि पाल वेल्लेस, ओ० पी० गोयल, मोरीस जोन्स वगैरह ने भारतीय राजनीति मात्र कांग्रेसी राजनीति माना था, जिसका परिणाम है, ब्रास का 'कांग्रेसी गुटों पर राजनीति'-शोध)। रजनी कोठारी² ने तो २६ जनवरी १९६७ के The Indian Express के लेख में यहाँ तक कहा था, कि कांग्रेस की हार भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को मर्यादित चोट पहुँचायेगी। ऐसी राजनैतिक गवेषणाओं से आम जनता सरकार एवं दल, व्यक्तित्व व नेतृत्व, सामाजिक सेवा एवं राजनीति में अंतर करना भूलने लगी।

इस राजनीति की अजनतांत्रिकता को सर्वप्रथम डॉ० राममनोहर लोहिया ने १९६२ में ही समझा था, और जनसंघ एवं साम्यवादियों से बातचीत भी की थी।³ १२ जुलाई १९६४ को आपने यह वक्तव्य भी दिया (टाईम्स आफ इंडिया) कि सामान्य मतदाता की नजरों में कांग्रेस एवं सत्ता के एकीकृत स्वरूप को तोड़ना है। पटना की सभा में आपने यह भी कहा कि 'कांग्रेस एक कुंडलीमार सर्प है, जो कि देश के भाग्य पर फन फैलाए बैठा है, इसके हटाए बिना देश का विकास संभव नहीं है।' इसी पृष्ठभूमि में 'गैर-कांग्रेसवाद' का विकास हुआ, और कांग्रेसी राज्य की शीघ्र समाप्ति के लिए १८ दिन की गुप्त सरकार गुप्त हो गई, ६ दिन की शर्मा सरकार शरमा गई, मध्य प्रदेश के चाणक्य मिश्रा मिश्री हो गए। इस प्रकार दल-बदलाव जनता की भावनाओं के लिए एक जनीय रोल लिए था, जिससे १९४२ का जन-स्वातंत्र्य भावों का उफान लिए था।

1. 'The Times' (London) Article of Morris Jones; March 1967, London.

2. 'The Indian express' Ed. Frank Moraes, 26th Jan. 67, and also see The Times (London) 2 articles of Navilli Maxwell.

3. Mankind, Lohia special Number, Roma Mitra, April to 68.

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है, कि क्या हम (अ) विधायी टूटन (ब) संगठनी टूटन (स) सैद्धांतिक टूटन का विभाजन कर सकते हैं। क्योंकि जब अशोक मेहता ने प्रजा समाजवादी दल का परित्याग कर योजना आयोग की उपाध्यक्षता स्वीकार की, तो मैसूर के एम० एस० गुरुपद स्वामी से लेकर, उत्तर-प्रदेश के गेंदासिंह तक कांग्रेस में चले गये। जिसका परिणाम था कि संगठनी-टूटन और सैद्धांतिक टूटन का श्रोगणेश हुआ। इस प्रकार के विघटन की अगर उस समय राष्ट्रीय आलोचना होती, तो वर्तमान समय की टूटन असंगत और अनैतिक करार दे दी जाती।

इसी तथ्य के क्रम में सैद्धांतिक परिवर्तन भी जुड़ जाता है, इंग्लैंड में डिजरायली, विंस्टन चर्चिल के दल-बदलाव ऐसे थे। यहाँ पर भी प्रश्न यह है, कि किसी बुद्धिवादी की सनक (राजगोपालाचारी द्वारा स्वतंत्र दल निर्माण) या मौलिकता के लिए विवाद (अशोक मेहता बनाम डा० लोहिया की नीतियाँ, या साम्यवादी जगत में रणदिवे बनाम पूर्णचन्द जोशी नीतियाँ) अथवा जवाबी नीति निर्माण (ट्राटस्की बनाम स्टालिन या ल्यू शाओ ची बनाम माओवाद) से जनतांत्रिक-दल-निर्माण प्रक्रिया एवं आन्दोलनी पहलुओं को कितना नुकसान होता है? श्री मीनूमसानी का कांग्रेस समाजवादी कांग्रेसी, और फिर स्वतंत्राई मसीहा बनना किस प्रवृत्ति का द्योतक है, क्या डा० सम्पूर्णानन्द इसे निर्दलीयों से ज्यादा विश्वसनीय मानेंगे? देश में एम० एन० राय का कट्टर मानववाद, जे० पी० की दल विहीन व्यवस्था जैसे सैद्धांतिक विघटनों ने जनतंत्र को क्या कम नुकसान पहुँचाया है?

मुझे एक बात यह भी प्रकाश में लानी है, कि एडवार्ड केन^४ जैसे विद्वान तो यह चुनौती देते हैं, कि क्या भारतीय दल प्रतिद्वन्द्विता करते हैं? फिलिप जे० ऐटबेक^५ भी अपने लेख में कहते हैं, कि भारतीय राजनैतिक दल और विशेषकर समाजवादी शक्तियाँ 'शक्तिवादी' मान्यताओं से निर्देशित होने की बजाय 'सैद्धांतिक' विवादों में शक्ति व्यर्थ करती हैं, और इसलिए १९६७ का चुनाव भी 'रंगहीन' है। अतः जब पहली बार इस चुनौती का सामना किया जा रहा है, जब पहली बार सत्ता और सिद्धांत में व्यावहारिकता लाई जा रही है, तो इस प्रकार का जिहाद छेड़ा जाना नितांत आवश्यक है।

अब हम यह चाहेंगे कि विगत भारतीय राजनीति में भी दल-परिवर्तन, मत परिवर्तन होते रहे हैं। १२ क्रांतियों के हीरो और अंतर्राष्ट्रीय कामिनतानी के सदस्य स्व० एम० एन० राय ने कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव लड़ा, और कट्टर साम्यवाद विरोधी हो गए। १९२० में डॉ० एन० बी० खरे ने कांग्रेस उच्च सत्ता एवं सरदार पटेल की बात न मानते हुए मध्य प्रांत शासन में रहना स्वीकार किया, एवं वायसराय काउंसिल के सदस्य भी बने। इसी प्रकार स्वतंत्रता के बाद रफी अहमद किदवई के बारे में नम्रता से यह प्रश्न पूछा जा सकता है, कि १९५२ के चुनाव के समय आप कांग्रेस के साथ थे या किसान मजदूर पार्टी के। श्री शिब्वन

4. 'Social Studies', Edward Cane 'Can Indian Parties Compete?'

(4. SA)

5. 'Orbis', Philip J. Atback 'Political scene at 1967 Election'

(4. S 72)

लाल सक्सेना का दल बदल भी कोई नई बात नहीं है। आज दल-परिवर्तनों की यह दिशा कांग्रेस से गैरकांग्रेसवाद की हो गई है। (आज भी सांख्यिकी से यह बात सिद्ध है कि कांग्रेस द्वारा किए विधायी टूटन छोटे और अस्थायी हैं, जिसका उदाहरण बिहार में भोला पासवान शास्त्री का शोषित कांग्रेस को हटाकर मुख्यमन्त्री बनना है।)

एक और भी प्रश्न निराकरण चाहता कि वह यह है कि क्या बी० पी० मण्डल का त्यागपत्र लोहिया के गैर कांग्रेसवाद को गलत साबित करता है? भारतीय साम्यवादियों का यह प्रश्न है, कि जातिगत रूप से वर्ग संघर्ष का निराकरण सम्भव नहीं है, और इसलिए परिगणित जातियों की बात से श्री मण्डल ने संसोपा को धोखा दिया एवं मध्य प्रदेश, बिहार, पंजाब व केन्द्र में भी 'शोषित दल' की बातें लोहिया दर्शन को खत्म करती हैं। (अ) भारत के अछूतों में प्रथम बार 'हमहुँ को राज, हमहुँ पटरानी' की भावना आई है। (ब) राजनैतिक व्यवस्था में तेज परिवर्तन के लिए अस्थायी खराबियाँ होती हैं, जैसा कि भोला पासवान ने सिद्ध कर दिया है। (स) भारतीय राजनैतिक दलों का संगठनी आधार एवं नीति निर्माण इतना अधूरा है, कि साम्यवादी दल भी अपने को अरक्षित अनुभव करते हैं।

यहाँ यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि दल परिवर्तन जनता के साथ विश्वासघात है? इसका यही उत्तर है, कि मध्यावधि की चुनाव की प्रतीक्षा की जाये; जिसमें मतदाता अपना निर्णय दें। कोटा (अटल) के दलबदलू रामचरण (भू० पू० जनसंघी) एम० एल० ए० के समस्त सार्वजनिक कार्यों का जनता द्वारा बहिष्कार एवं विरोध भी एक अन्य रास्ता है।

भारतीय राजनीति के विद्यार्थी के नाते मेरा यह प्रश्न है, कि क्या दल परिवर्तन, राजनीति से सन्यास लेने से कम घातक है? आज कोई भी निरपेक्ष पर्यवेक्षक कह सकता है कि एम० एन० राय, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, कमला चट्टोपाध्याय एवं आचार्य कृपलानी की निर्दलीयता ने इस देश की राजनीति को कुन्द कर दिया है। जबकि देश की राजनीति को जनोन्मुख एवं मुखरित बनाने वाला डॉ० लोहिया भी आज नहीं है।

क्या दल परिवर्तन इस देश में राजनैतिक शक्तियों के ध्रुवीकरण में तीव्रता प्रदान करेगा? राजनीति का यह निर्णय है कि छोटे दलों का विघटन, बड़े दलों को जन्म देगा और बड़े दल सैद्धांतिक कम और सत्तानिर्देशित ज्यादा होंगे, जिससे दलों के अपने-अपने विशेषज्ञ समस्याओं का हल देने लगेंगे। राजस्थान में रामराज्य परिषद् का अंत एवं स्वतन्त्र दल का उदय इसी प्रक्रिया का द्योतक है, और इस प्रकार राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रचार बढ़ेगा।

इन सब पहलुओं को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है, कि भारतीय कांग्रेस एवं विरोधी दल आज भी 'यथास्थिति की राजनीति' को 'परिवर्तन की राजनीति' से ज्यादा प्रेम करते हैं, वे आन्दोलन की जगह बहस चाहते हैं, और 'जनीय' होने की जगह 'एलीटी' बना रहना चाहते हैं। वरना तो दल-परिवर्तन से भय का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि :—

(अ) दल-परिवर्तन एक अस्थायी प्रक्रिया है, जो कि कालांतर में राजनैतिक स्थिरता को जन्म देगी।

(ब) दल-परिवर्तन अ-नैतिक है, जिसमें सिद्धांत, नीतियों और नैतिकता का प्रश्न उठाना इस प्रश्न को अ-राजनैतिक बना देता है।

(स) अतः दल-परिवर्तन भारत में 'जनतन्त्रीय शक्तियों' की स्थापना में महत्वपूर्ण कदम है।

लेखक का और समाज नायक का भी आन्तरिक संघर्ष

अजित कुमार

रवीन्द्रनाथ की एक प्रसिद्ध कहानी है—'विजय'। इसमें उन्होंने शेखर और पुंडरीक नामक दो कवियों की कथा लिखी है। शेखर नामक भावप्रवण और कल्पनाशील कवि को पुंडरीक नामक विद्वान और पंडित कवि चुनौती देता है, राजदरबार में दोनों अपनी कवितायें सुनाते हैं और निर्णायक-जन सर्वसम्मति से पुंडरीक की चमत्कारपूर्ण ओजस्वी कविता को शेखर की मधुर और करुण कविता से श्रेष्ठ ठहराते हैं। इस घटना से शेखर को बहुत पीड़ा होती है। वह चुपचाप अपनी कुटिया में आकर लेट जाता है। शाम के समय राजकुमारी वहाँ आकर कहती है कि सच्ची विजय उसी की हुई थी, लेकिन तब शेखर इसे सुनने के लिए जीवित न था।

शाश्वत काल से कविता के क्षेत्र में यही होता आ रहा है। प्रत्येक युग में शेखर और पुंडरीक कवि रहे हैं। पुंडरीक कवियों के सम्मुख शेखर कवियों को सदा नीचा देखना पड़ा है। ऐसा नहीं कि शेखर कवियों को मान्यता कभी मिली ही नहीं पर अधिकतर वह मान्यता उन्हें उस समय मिली, जब वे इस संसार को छोड़कर जा चुके थे। कला की देवी ने उनका अभि-नन्दन अधिकतर बहुत देर से किया। पर एक तरह से यह अच्छा भी हुआ, क्योंकि जीवनकाल में मिला हुआ यश कदाचित् उनकी कला के लिये हितकर न रहा होता। यह बड़ी निर्मम और दूर स्थिति अवश्य है, लेकिन समाज कवि को शायद इसीलिए मार देता है कि कविता जी सके।

साहित्य के पिछले तमाम युगों की भाँति, आधुनिक युग में भी शेखर और पुंडरीक कवियों की वही सापेक्ष स्थिति बनी रही है। पुंडरीक कवियों का नाम लेना खतरनाक होगा, शेखर कवियों का नाम लेने-न-लेने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता, इसलिये उनमें से कुछ का नाम बेभ्रमक लिया जा सकता है। ये नाम हैं, हिन्दी में 'निराला' और 'मुक्तिबोध' के। इनकी कविता और इनकी नियति—दोनों का साम्य शेखर की कविता और उसकी नियति के साथ स्पष्ट देखा जा सकता है।

आज के बदले हुए परिवेश में कवि के विषय में इस तरफ की रूमानी धारणा को बनाये रखना कुछ अटपटा भी लग सकता है। ऐसा क्यों समझा जाय कि जीवन भर संघर्ष करने वाले कवि को ही समाज का आदर तथा प्रेम और वह भी बाद में मिलेगा। क्या यह एक तरह का सामाजिक परपोइन या सेडिज्म नहीं है? इसके पीछे कहीं हमारी वे मनोभावनायें तो काम नहीं कर रहीं, जिनका सम्बन्ध मध्य और प्राचीन युगों से है और जो मूलतः नैतिक तथा धार्मिक मान्यताओं के साथ जुड़ी हुई हैं? उनके अनुसार तो 'निर्धन जन ही प्रभु के प्रिय हैं, क्योंकि उन्हें ही प्रभु के साम्राज्य का उत्तराधिकार मिलेगा।' इन मध्य युगीन धारणाओं

के पीछे कदाचित् सामाजिक अन्याय तथा असमानता के स्पष्टीकरण की कोशिश थी और उस अन्याय से लड़ने के लिये लोगों को प्रेरित करने का संदेश उनमें निहित था। संसार भर में कितने ही संतों, महापुरुषों, समाज सुधारकों, नेताओं और कलाकारों ने अपने कार्य की प्रेरणा इसी तरह की व्याख्याओं से प्राप्त की है। व्याख्याओं के अतिरिक्त, उनके सामने ऐसे विद्रोहियों और नेताओं के उदाहरण भी रहे हैं जिन्होंने उनसे पहले किसी ऐसे काम का बीड़ा उठाया था जो तत्कालीन समाज के लिये विशेष प्रीतिकर न था और जिसे करने के लिये उन्हें जीवन-काल में उपेक्षा, तिरस्कार एवं अभाव का सामना करना पड़ा, परन्तु आगे चल कर समाज ने उनके मूल्य को पहचाना और उन्हें प्रतिष्ठा दी। सुकरात, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर आदि के उदाहरण उन्हीं समाज नायकों के उदाहरण हैं, जिनकी नियति शेखर जैसी ही रही थी।

इस विषय में संसार की प्रत्येक भाषा में इतना अधिक लिख गया है और हीरो या वीर की पूजा और उसके महत्त्व तथा सच्चे गुणों का इतना अधिक बखान किया जा चुका है कि यहाँ और अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। परन्तु आज के अर्थात् आधुनिक काल के बदले हुये परिवेश में हम अनुभव करते हैं कि एक और तो वीर का महत्त्व कम होकर सामाजिक शक्तियाँ और वर्गों का महत्त्व बढ़ गया है, दूसरी ओर शिक्षा और संचार के साधनों के अधिकाधिक बढ़ जाने के कारण किसी विशेष क्षेत्र में गंभीर और सच्चा कार्य करने वाले व्यक्ति के महत्त्व को समाज द्वारा समझना और पहचानना अपेक्षाकृत अधिक सुगम और संभव हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भारत में गाँधी के कार्य और महत्त्व को पहचानने में देश ने कोई देर और भूल नहीं की। माना कि उनकी मृत्यु वीरों की सच्ची परम्परा में, शहीद की मृत्यु थी पर वह एक तरह की दुर्घटना या संयोग मात्र थी। गाँधी के प्रति देश की सामान्य और व्यापक भावनाओं का कोई भी मेल उनकी दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु के साथ न था। कहने का अभिप्राय यह है कि गाँधी और नेहरू को उनके देश ने उनके जीवन काल में ही पर्याप्त रूप से पहचान लिया था और उसके अनुरूप ही उनको आदर तथा प्रेम दिया था।

प्रश्न यह है कि क्या गाँधी और नेहरू के प्रति देश का प्रेम इसलिये उमड़ा था कि उनमें से एक लंगोटी लगा कर हरिजनों के साथ उन्हीं का सा जीवन बिताता था और दूसरा अपने पिता की अपार सम्पत्ति का मोह छोड़ तन-मन-धन से देश की सेवा में लग गया था ? और क्या ऐसा उन लोगों ने अपने प्रति देश का आकर्षण या करुणा उभारने के लिये किया था ? इसमें संदेह नहीं कि साधु-संतों और वैरागियों की पूजा करने वाले इस देश द्वारा गाँधी को; गाँधी की तरह जीवन-यापन करने के लिये, 'महात्मा' की उपाधि से मंडित कर देना बहुत स्वाभाविक और उचित था। और इस दृष्टि से यदि नेहरू के साथ देश की जन-भावना का तादात्म्य उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में किसी कदर कम हो गया था तो इसकी थोड़ी-बहुत वजह यह भी थी कि जनता उन्हें अपने से दूर देश की राजधानी दिल्ली में, वैभव के बीच निवास करने वाले राजा की भाँति समझने लगी थी। पर कदाचित् एक अन्य स्तर पर, देशवासियों को नेहरू इसी कारण और भी आदरणीय प्रतीत होने लगे थे, क्योंकि बहुत लम्बे काल से यह देश केवल दो प्रकार के व्यक्तियों को आदर प्रदान करता रहा है—साधु को और राजा को। इस स्थिति में आज भी कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। लोगों को याद होगा

कि ग्राम चुनावों में जब इंदिरा जी अपने पिता के चुनाव दौरो पर जाती थीं, तो कितने ही गाँव वाले नेहरू जी को 'राजा' और इंदिरा जी को 'राजा की बिटिया' कहते थे और स्वीकार करते थे कि जब राजा की बिटिया बोट माँगने आई है तो उसकी बात उन्हें रखनी ही पड़ेगी। इस प्रकार गाँधी को महात्मा और नेहरू को राजा का पद देने वाले इस देश ने कोई नई बात नहीं की थी बल्कि अपनी पुरानी परम्परा को ही दोहराया था, जिसमें समाज द्वारा केवल दो ही वर्गों को आदर प्राप्त होता था—साधु वर्ग को और राजावर्ग को। हम अपने पुराने इतिहास को उठा कर देखें तो वह केवल ऋषियों-मुनियों और राजा महाराजाओं के वृत्तों से भरा मिलेगा। हमारा इतिहास सामान्य जन अथवा मध्यवर्गीय जीवन का इतिहास न होकर केवल उच्च वर्गों का इतिहास रहा है और उच्चता की कसौटियाँ प्रायः दो ही मानी जाती रही हैं—वैराग्य और वैभव।

आधुनिक युग में मध्यवर्ग के उदय और क्रमशः विघटन के क्रम में लेखक और कलाकार की स्थिति चक्की के दो पाटों के बीच हो गई है। कवि या लेखक ने यह अनुभव किया कि उसकी मध्यवर्गीय स्थिति उसके लिये विचित्र सीमाएँ और विवशताएँ भी उपस्थित करती है। भीतर से अपने आप को विशिष्ट समझने या कि विशिष्ट होने के कारण लेखक जिस मध्य वर्ग का है उससे पूरी तरह अपने आप को जोड़ नहीं पाता। जहाँ तक जीवन की गहराई का सम्बन्ध है, उसकी पूरी जानकारी लेखक को तभी हो सकती है, जब समाज के व्यापक जीवन अर्थात् निम्न मध्य वर्ग और निम्न वर्ग के जीवन को न केवल पहचाने बल्कि उसको खुद भी जीने के लिये तैयार रहे। यह रास्ता अभाव, तिरस्कार, दमित आकांक्षा और उपेक्षा का रास्ता है, जिसको शेखर की भाँति 'निराला' तथा 'मुक्तिबोध' ने अपनाया और अपनी रचना को जीवन के गहरे संदर्भों के साथ जोड़ कर कलात्मक श्रेष्ठता प्राप्त की थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक युग के लेखक के सम्मुख दूसरा विकल्प यह भी है कि वह अपने से ऊपर के वर्ग—उच्च मध्य वर्ग या उच्च वर्ग के साथ जुड़ने की कोशिश करे, क्योंकि आज का समाज लेखक को न केवल इसकी सुविधायें दे रहा है बल्कि इसको अधिक आकर्षक भी बना रहा है। साफ़-सुथरे घर, सजे हुये ड्राइंग रूम, बढ़ती हुई रायल्टी, शिचिंत और सुन्दर पत्नी, पब्लिक स्कूल में बच्चों की पढ़ाई, बिजली, पंखा, फ्रिज, टेलीफोन और यथासुविधा अपनी मोटर-कार तथा इन सबके साथ जुड़ी हुई हैसियत के लिये आज का लेखक यदि लालायित रहता है तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है। ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि यह जन और जीवन से उसके विमुख होने का कोई प्रमाण है या कि संघर्ष से बचने की प्रवृत्ति का। लेखक के रूप में कोई जानबूझ कर जीवन से विमुख नहीं होता। जहाँ तक संघर्ष का सम्बन्ध है, इन तमाम वस्तुओं को जुटाने के लिए लेखक को पर्याप्त संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि भारतीय समाज में इन वस्तुओं अथवा सुविधाओं की मात्रा बहुत कम होने के कारण इन्हें हासिल करने का मतलब बेहद कशमकश और दौड़धूप करना है, बल्कि सच पूछिये तो ये वस्तुएँ किसी-न-किसी तरह का समझौता किये बिना हासिल नहीं हो सकतीं—वह समझौता चाहे राजसत्ता से हो चाहे धनसत्ता से। समझौता करने में जहाँ आत्मा का हनन होता है, वहाँ लाभ भी अनेक हैं—समझौते लेखक को पुंडरीक कवियों जैसा यश दिलाने में सहायक हो सकते हैं।

वास्तव में आज लेखक की स्थिति तिराहे पर खड़े एक ऐसे व्यक्ति की स्थिति है जो अपने मध्यवर्गीय जीवन-पथ पर पीछे लौट कर जा नहीं सकता, जिसमें निम्न मध्यवर्गीय जीवन-पथ अपनाने का साहस नहीं है और उच्च मध्यवर्गीय जीवन-पथ पर अधिकारपूर्वक पहुँच सकने की सामर्थ्य नहीं। तिराहे पर ठिठके हुये लेखक के इस आंतरिक दंश को पहचान कर ही हम उसके लेखन को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे। पर इस पहचान का मतलब लेखक को उसके जीवन और लेखन के प्रत्येक स्तर पर टोकना या 'सेंसर' करना नहीं, बल्कि समाज की अत्यन्त जटिल प्रक्रियाओं के बीच उसको सहानुभूति देना है। हम उसकी इस अवस्था का उपहास न उड़ायें कि एक ओर तो वह 'बाजार में लुकाठी लेकर खड़े हुए कबिरा' के साथ, अपना घर फूँक कर चल नहीं पाता और दूसरी ओर 'हम तो सारा-का-सारा लेंगे जीवन, कम-से-कम वाली बात न हमसे कहिये' की अपनी मुद्रा के बावजूद 'कम-से-कम' पाकर भी संतुष्ट हुआ दीखता है।

लोहिया और भारतीय समाजवाद

धर्मेन्द्र गोयल

इस क. ख. ग. के विशेषांक के लिए स्वर्गीय लोहिया के राजनीतिक विचारों और कार्यों का यह संक्षिप्त मूल्यांकन करने का यह अवसर मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से स्वयं अत्यंत मूल्यवान है। मैं कभी किसी राजनीतिक दल का सदस्य नहीं बन सका हूँ, किन्तु समकालीन भारतीय जीवन में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पुनर्गठन के लिए समाजवाद को अनिवार्य मानता हूँ और जो कुछ भी इस दृष्टि से कर सकने की स्थिति में कभी भी रहता हूँ, करता रहा हूँ। इसीलिए १९६३ की मई में डा० लोहिया के फरुखाबाद के चुनाव में जीतने के किए गए प्रयास में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के अलावा कुछ समाजवादी विचार धारा वाले अ-राजनीतिज्ञ अन्य लोग भी इकट्ठे हुए थे। मैं भी उनमें से एक अत्यंत नगण्य स्वयंसेवक था। वैसे इससे पहले भी डा० लोहिया को प्रयाग काफ़ी हाउस में लक्ष्मीकांत वर्मा तथा रजनीकांत के साथ देखा मात्र था। इस प्रकार मेरा उनसे कभी कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहा है। उनके संसद वक्तव्यों, लेखों, पुस्तकों और समाचार पत्रों में प्रकाशित सामग्री ही मेरे निम्न कथन के आधार हैं। मैं स्वयं अपने मूल्यांकन को प्रस्तावित करने के लिए यह कहना जरूरी समझता हूँ, कि मेरे समाजवादी दृष्टिकोण में यह साफ़ है कि गांधीवादी राजनीति और अहिंसा की अनिवार्यताएँ हिन्दोस्तानी समाजवादियों पर जरूरत से ज्यादा हावी हो गई हैं। स्मरण रहे, कि मैं गांधी की आन्तरिक ईमानदारी पर शक नहीं करता, लेकिन उनके द्वारा एक राजनीतिक धुंध, कपटाचार और रोमैटिक कृत्रिमता की विरासत हमारे समकालीन जीवन में घुन की तरह फैलाई गई है; हो सकता है स्वयं उन्हें इसका कोई चेत न हो, और यह स्थिति खुद हमारे पाखण्डी, शिखण्डी मतव्यों और सर्वहारा जनता के अज्ञान की वस्तुनिष्ठ नियति हो। लेकिन लेक्चर, चुनाव, सत्याग्रह, जुलूस, अनशन, जेलयात्रा, और बेहूदा प्रस्ताव, हुल्लड़, (मूलतः ग़ैर ज़िम्मेदारी) राजनीति, क्रान्ति, और सामाजिक दायित्व के निर्वाह के लिए पर्याप्त माने जाते रहे हैं। इस प्रश्न पर लोहिया जी भी समस्त क्रान्ति बोध के प्रखर विश्लेषक और प्रज्ञाशील राजनीतिज्ञ होकर भी गांधीवादी रोमांस से युक्त नहीं हो सके। उन्हें यह फ़क्र था कि वे हिन्दुस्तान में ट्राट्स्की के स्थायी क्रान्ति के विचार की टक्कर की स्थायी शहरी नाफ़रमानी (नागरिक अवज्ञा) के औज़ार को दे सके, और उन्हें आशा थी कि, एक नई भारतीय संस्कृति सम्भव होगी, जो आर्थिक दृष्टि से समाजवादी होगी और सामाजिक दृष्टि से चौखम्भा स्तर पर समता और जनतंत्र को स्थापित करेगी। इसमें भूमिहीन किसान, मजदूर, अन्त्यज, नारी, और पिछड़ी कबोली जातियों और अल्प संख्यकों को शोषण, अज्ञान, उत्पीड़न, और ग़ैर बराबरी से जनतन्त्रात्मक वैधानिक या ग़ैर वैधानिक (सत्याग्रह, घेराव, जुलूस आदि जिसे वे सड़कों के समाजवाद कहते थे) तरीकों, पर अहिंसात्मक और मानवीय उद्बोधन को प्राप्त कराने के

बाद स्वतंत्र कर सकना सम्भव होगा। किसी वस्तुस्थिति का विश्लेषण यहाँ अप्रासंगिक होगा, परन्तु इतना स्पष्ट है कि स्वर्गीय लोहिया जी भी महात्मा जी के शिष्य ही बने रहे, उन्होंने मूलतया गांधीवादी राजनीति, उसकी भंगिमा, शैली को अपनाया। उदात्त किन्तु कुछ-कुछ बाष्पीय मनोस्तर से उतरकर गहरी, गाढ़ी, कड़ी धरती पर सच्चाई को ढालने के यथार्थ-वादी कार्यक्रम पर कम गौर किया, और रागात्मक वकालत, सनसनीखेज नारे कुछ कुछ आधुनिक भारतीय साहित्यिक प्रवृत्ति के समान क्षणिक चमत्कृत करने वाले जीवंत शब्द, प्रतीक, और बिम्ब दिए। बस। कभी-कभी तो लगा कि राजनीति की गँदली डगर में एक महान् गहरी साहित्य की विभूति खो गई। लोहिया की प्रदीप्त तेजस्विता मुझे उनके लेख पढ़ने और विचार जानने के लिए सतत् आकर्षित करती रही हैं। इस दृष्टि से उनकी अकृत्रिम, अभिनव, मार्मिक नूतनता, मौलिक व्याख्या और भाव प्रवणता प्रेरणादायनी हैं। यह सब कहना आवश्यक है, क्योंकि हमारे मुल्क में हर क्रान्तिदर्शी के मठ बनते देर नहीं लगती और जो मैं पहले लिख चुका हूँ कहीं उतना ही पढ़ कर कोई सच्चा लोहियावादी मुझ जैसे 'बाहरी' की हुलिया ठीक करने का ही निर्णय न ले बैठे ! मैं कोई पार्टी का आदमी तो नहीं, और कहीं रास्ते चलते 'घेराव' किए जाने की स्थिति ही पैदा न हो जाए, जो मुझे बहुत सुखद नहीं लगती। शायद औरों को भी न लगती हो।

विषय पर विचार करते हुए कुछ बातें साफ़ समझने की जरूरत है, वे इस तरह हैं :—

(१) लोहिया का भारतीय जनतांत्रिक समाजवाद के विकास में केन्द्रीय हाथ है। वे उसके संस्थापक, विचारक, और एक प्रमुख सिपाही रहे हैं। (२) लोहिया भारतीय राष्ट्रीयता के अनन्य पुजारी थे, और इसके साथ ही वे एशियाई और गैर-यूरोपीय जातियों के स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बढ़ाने के लिए विशेष रूप से उत्सुक थे। उन्होंने तमाम ज़िदगी हिन्दुस्तान की लड़ाई लड़ी (३) वे 'विश्व यारो' और हवाखोरी की कूटनीति को मानववादी राजनीति से घपलाने के सख्त खिलाफ थे। (४) भारतीय कृषक समाज की परिभाषा उनकी एक हद तक गांधीवादी थी, वे न तो माओ की तरह कमून में विश्वास करते थे और न स्तालिन की तरह किसान को अपनी ज़मीन के अधिकार से वंचित करना चाहते थे। लगान बन्दी, माफ़ी, परती ज़मीन के बँटवारे के सवालों पर उनके विचार सर्वोदयी, सहयोग और भूमि-स्वामित्व के विपक्ष में नहीं थे। वैसे वे ग्रामदान अथवा भू-दान से अधिक प्रभावित नहीं हुए। (मार्क्सवादी पार्टियों के वक्ताओं के अलावा स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्र देव ही इस पर विशेष रूप से स्पष्ट थे) वैसे कहाँ तक यह गांधीवादी दृष्टि समाजवाद के हक में है, मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता (५) लोहिया का ध्यान औद्योगिक विकास की गति के प्रति भी कुछ-कुछ गांधीवादी था। बड़े कारखानों, बड़े नगरों, और भारी पूँजी की खपत को वह यदि हानिकारक नहीं तो कम से कम असाध्य जरूर मानते थे। इस पर जनतन्त्रात्मक समाजवादियों में जम कर बहस होनी चाहिए। (६) हुक्काम फ़रोशी के वे दुश्मन थे। हुक्कामों की अदाओं, नज़ाकतों और चालबाजियों को जिस अन्दरूनी पैठ से वे पहचानते थे, और जिस नाज़ुक ख्याली और मार्मिक अहसास से अपनी संसदीय कार्यवाही में उसे अदा करते थे, उसमें अनायास एक छिपे कलाकार की प्रतिभा फूट पड़ती थी। उनके न

रहने से लोक सभा सूनी हो गई। यह तो उनके दुश्मन भी मानेंगे। (७) 'आर्थिक-विकास' में छिपी हुई उन मजबूरियों को जिनको अशोक मेहता गिनते बतलाते कभी नहीं थकते, लोहिया ने उन्हें कभी भी सही नहीं माना। लोहिया को अन्त्यज, कबीली, नारी और भूमिहीन अल्पसंख्यकों की गैर-बराबरी किसी भी क्रीमत पर मान्य नहीं थी। ठीक। लेकिन क्या उन्होंने कोई ऐसा सम्भव हल दिया जिसको सम्भवतया आगे आने वाली कोई समाजवादी पार्टी या सरकार लागू करके जनतन्त्र, समानता, और समाजवाद लाने तक कुर्सी पर भो बनी रहे या कुर्सी पा सके, और लक्ष्य वेध कर सके? उसे पहिचानना सोचना और ढूँढना हमारा कर्तव्य है।

(८) इस दृष्टि से लोहिया की राजनीतिक शैली, मतवाद, कार्य-प्रणाली और नेतृत्व क्या ऐसे बन सके कि उनके द्वारा जो कुछ भी १९४७ के बाद के भारत में नेहरूवादी चोंचलेबाजी के अतिरिक्त समाजवादी आदर्शों के लिए करने की वस्तुनिष्ठ स्थितियाँ थीं उनमें अधिकतम सौहार्द, संगति और योजना बैठाई जाती?

(९) यदि (८) का उत्तर नकारात्मक है, तो वह कौन से ऐसे तत्व थे जिन्होंने डा० लोहिया की दो टूक ईमानदारी तथा सच्चाई, लगन और शक्ति को अपने लक्ष्य में पूरी तरह कृतिशील होने से उन्हें रोके रखा? इनको आज जानना जरूरी है। उनको हटाने से ही आगे समाजवाद बढ़ेगा।

(१०) यह नहीं कि "यदि जो कुछ हुआ, यदि न हुआ होता या जो नहीं हुआ, यदि हुआ होता तो आखिरी स्थिति वह न होती जो आज है"—किन्तु क्या इस सारे युग की यह विडम्बना थी, या नियति, कि एक-एक करके आदर्शोन्मुख व्यक्तित्व हताश हुए; समाजवादी पिछड़ गए, टूट गए, मक्कार और बेअरुल बेहदशी की तिज्जारत करते-करते एकाएक एक दिन राष्ट्रवादी पितामह बन बैठे। विद्रूप, भाग्य... (सर सी० डी० देशमुख और उनके जैसे अन्य गुलाम जहानियत के चापलूस अफसर, अखबार नवीस, रजवाड़ों के मवाद और पूँजीपतियों के बिके हुए कारकून कैसे राष्ट्रपिताओं जैसे नए ठाठ रचने लगे हैं) लोहिया ने अपनी पैनी निगाह से इस साजिश को पहचाना जरूर पर क्यों वे उतावले, अधकचरे साथियों की बाल-सुलभ क्रियाओं में फँसे इस गहरे षड्यन्त्र की कोई सफल काट न ढूँढ़ सके? क्या कोई काट है भी? आज यदि है तो उस पर बहस हो।

(११) आज लोहिया चले गए। उन्होंने जिस दो टूक ईमानदारी की नसीहत हमें दी है, उस पर गहरे में सोचना और उस विचार को दूसरे दोस्तों तक पहुँचाना हमारा फरज है। क्या सिर्फ 'व्यक्तिगत ईमानदारी' हमारी मौजूदा हालत को क़ाबू करने के लिए काफ़ी है। शायद नहीं। जरूरत है संगठन, संयोजन की उन क्रान्तिविदों की जो जमाने की हकीकत को बेमुलम्मे के पहचानने के क़ाबिल हैं, और साहस रखते हैं। और जो कुछ उसूलों पर एक-चित्त हो कर काम करने के लिए तैयार हों। उन उसूलों की लम्बी अकादमिक विचार की बहस भी हो तो कुछ हर्ज नहीं, लेकिन बहस सिर्फ काफ़ीहाउस का शगल और पिनक की खुराक अफ़्रीम न बने, तो बेहतर हो। सवाल तो ऊपर इकट्ठे कर दिए गए हैं।

(ग) लोहिया के व्यक्तित्व और भारतीय समाजवाद की स्थिति को लेकर जो क ख ग—१५

बातें कहने लायक लगती हैं (क) और (ख) में कह चुका। यहाँ कुछ समाजवाद को उनकी देन की चर्चा करके इस संक्षिप्त लेख को खत्म करूँगा।

प्रमुखतया लोहिया क्रान्तिकारी थे। उन्होंने हमारी चिन्तन शक्ति को बढ़ाया हो या न बढ़ाया हो, परन्तु हम सभी को यह अहसास जरूर कराया कि विचारों की राजनीति अभी बिलकुल दम नहीं तोड़ चुकी है। वह शक्तिशाली भी हो सकती है। हमारे तिजारती और आत्मविकास के धन्वों में लगे जीवन को उन्होंने चुनौती दी, लगा कि कह रहे हैं :— “मुझे देखो, कैसे बिना साजोसामान सिर्फ ‘विचार’ और ‘विश्वास’ से भी ‘बधिर’ और ‘मूक’ की पीड़ा को मुखर किया जा सकता है। और मैं कर रहा हूँ।”

लोक-सभा में उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तान की २७ करोड़ जनता सिर्फ ३ आने रोज पाती है....और दुनिया में एक पल के लिए झूठ की विजय क्षणिक लगी....एक बार नेहरू की लफ्फाजी शर्म से हार गई।

मरते दम तक होश में आने पर डाक्टरों से लोहिया कहता था : ‘यदि यह सोच सकता कि दुखिया चमार और घुरऊ पासी को भी उपचार इस मुल्क में मिलेगा, तो शायद जल्दी ठीक हो जाता.....कैसा कबीर जैसी दो टूक साफ बेफिक्र बात :—

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ....

जो घर फूँके अपना चले हमारे साथ....

लोहिया ने नेहरू के मरने पर कहा था कि उन्होंने अपने जेवर अपने परिवार को और अपनी राख राष्ट्र को दे दी है....लोहिया जैसे अकिंचन के लिए ही यह कहना सम्भव था।

आज लोहिया नहीं रहे, लेकिन उनकी दो टूक सच्चाई हमारे सामने है, वह दृढ़ता, वह बेलाग साफगोई, वह अडिग तेवर अगर हम अपने में पैदा करें, अपनी कमजोरियों को मिटाने में लगे और पारस्परिक कटुता और घटिया अभिजात की घटिया उपलब्धि से बचें; ऊपर उठें तो समाजवादी दृष्टि के विकास का नया परिच्छेद आरम्भ हो.....और शायद तब दुखिया चमार और घुरऊ पासी भी साथ हों।

भारत में अभी तो समय रुक गया है; मुझे डर है कि कहीं इतिहास हमारा चिन्ह ही न भूल जाए और कहीं हमें इतिहास के कूड़ेदान में असमय ही न फेंक दे।

और तब तक लोहिया को धूमिल की इन मटमैली लाइनों के साथ यह बेताली श्रद्धांजलि खत्म करता हूँ।

....मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिन पर ‘आग’ लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है

.....

.....
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
‘गया’ है।

और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम
नक्सलवादी है.....

नैतिकता और आध्यात्मिकता के बीच पुल

श्रीमप्रकाश दीपक

लोहिया ने एक जगह लिखा है कि आध्यात्मिकता स्थायी है, शाश्वत है, लेकिन हर युग को, हर समाज को, किसी हद तक हर व्यक्ति को अपनी नैतिकता की खोज स्वयं करनी पड़ती है। आध्यात्मिकता, अर्थात् जीवन का वह क्षेत्र जहाँ न केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच पूर्ण समता है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि में एकता है, अद्वैत है, यानो करुणा या ममता या अहिंसा। मनुष्य को किसी भी स्थिति में मनुष्य की हत्या नहीं करनी चाहिए—लोहिया की सृष्टि में यह एक शाश्वत सिद्धान्त है। लेकिन लोहिया ने एक जगह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अहिंसा को फ़िलहाल स्थगित रखने की बात भी कही है। कई बार, विशिष्ट परिस्थितियों में वे युद्ध का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।

इसके विपरीत, नैतिकता का अर्थ है मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों का नियमन। लोहिया की दृष्टि स्वीकृत या प्रतिष्ठित नियमों में परिवर्तन की, कई जगह आमूल परिवर्तन की है। सच बोलना भी एक नैतिक नियम है। लोहिया ने कम से कम इसके नकारात्मक रूप को—भूठ नहीं बोलना चाहिए—शाश्वत सिद्धान्त की सी प्रतिष्ठा दी। उन्होंने कहा कि जो सच है, उसे हर हालत में कह ही देना तो ज़रूरी नहीं लेकिन यह ज़रूरी है कि जो कहा जाय, वह सच हो। खुद अपने बारे में उन्होंने कहा कि होश आने के बाद मैंने जानबूझ कर कभी भूठ नहीं बोला, अतिशयोक्ति का इस्तेमाल भले ही किया हो।

लोहिया के विचारों में यहाँ एक प्रकट अन्तर्विरोध दिखाई देता है। कारण यह है कि लोहिया ने आध्यात्मिकता और नैतिकता के बीच, श्रेय और प्रेय के बीच पुल बनाने की कोशिश की। लोहिया मानते थे कि ये वर्गीकरण (नैतिकता और आध्यात्मिकता, श्रेय और प्रेय) भारतीय मनीषा की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से थे। लेकिन इन उपलब्धियों की सीमाएँ ही भारतीय सभ्यता की जड़ता का कारण बन गयीं। भारतीय जाति-व्यवस्था एक स्तर पर समाज के नैतिक नियमन की कोशिश भी है। लेकिन इस नियमन का मूल स्वरूप आध्यात्मिकता का विरोधी है। और इस कारण आध्यात्मिकता के प्रवक्ताओं को बार-बार जाति-व्यवस्था का सामना करना पड़ा, चाहे वे उपनिषत्कार थे या बुद्ध या शंकर। उपनिषत्कारों और बुद्ध ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया, लेकिन उन्हें अन्ततः उससे समझौता करना पड़ा। कारण कि आध्यात्मिकता की पूर्ण समता सामाजिक जीवन में असंभव प्रतीत होती थी। दूसरे, समता की प्रतिष्ठा के लिए चेष्टा करने का मतलब था संघर्ष, लड़ाई, जो आध्यात्मिकता को खंडित करती थी। यूँ भी बुद्ध को 'धम्म' की प्रतिष्ठा के लिये कितने ही युद्ध कराने पड़े थे। इस कारण सैद्धान्तिक स्तर पर आध्यात्मिकता की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हुए भी सामाजिक स्तर क ख ग—१५

पर उन्हें जाति-व्यवस्था की विषमता से समझौता करना पड़ा, और अन्ततः उससे पराजित होना पड़ा।

इस द्वन्द्व का परिहार किया शंकर ने, द्वन्द्व को स्थायी बना कर। उन्होंने आध्यात्मिकता और नैतिकता में पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद के द्वारा अध्यात्म के स्तर पर अद्वैत की प्रतिष्ठा की तो नीति के स्तर पर अनंत विषमता की, अनीति की। दार्शनिक स्तर पर सम्पूर्ण सृष्टि की एकता, सामाजिक स्तर पर यथास्थिति का समर्थन—जो कुछ है, वही ठीक है, क्योंकि वह पूर्व कर्मों का फल है।

गांधी जी ने जब सत्य और अहिंसा को समान प्रतिष्ठा दी, तो उन्होंने इस द्वैत को तोड़ा। कम से कम तोड़ने की चेष्टा की। लोहिया अगर अपने को गांधी का शिष्य कहते थे, तो उसका एक कारण यह भी था। नैतिकता और आध्यात्मिकता को जोड़ने की कोशिश में गांधी जी के सामने भी अन्तर्विरोध भरी स्थितियाँ आईं। चोरी-चोरा की घटना पर उन्होंने सत्याग्रह बन्द कर दिया था, लेकिन इक्कीस साल बाद १९४३ में कहीं बड़े पैमाने पर हिंसा हुई। गांधी जी ने कभी हिंसा का समर्थन नहीं किया, लेकिन साम्राज्यवाद की हिंसा और विद्रोही जनता की हिंसा को उन्होंने एक ही स्तर पर रखना भी कम से कम १९४२ में स्वीकार नहीं किया।

एक दृष्टि से, लोहिया के सारे जीवन का भी वही मूल सूत्र है—नैतिकता और आध्यात्मिकता को जोड़ना, यानी एक ऐसी नैतिकता की खोज जो आध्यात्मिकता के अनुरूप हो। इस खोज के सन्दर्भ में ही हम उस अन्तर्विरोध को समझ सकते हैं, जो लोहिया के विचारों में दिखाई देता है।

मिसाल के लिए, लोहिया ने इतिहास के इस तथ्य को देखा कि दुनिया का कोई भी देश इतनी बार विदेशियों द्वारा जीता नहीं गया, कोई राष्ट्र इतनी देर तक गुलाम नहीं रहा, जितना कि हिन्दुस्तान। उपयुक्त नैतिक नियमों और मूल्यों के अभाव में भारतीय आध्यात्मिकता स्वयं अपनी भी रक्षा करने में असमर्थ थी। भारतीय चरित्र मारना ही नहीं, स्वेच्छा से मरना भी भूल गया था, और मजबूरी की मौत को बिना विरोध स्वीकार करना उसने सीख लिया था। एक ओर जीव दया इस हास्यास्पद पराकाष्ठा पर पहुँच गयी कि हवा में तैरते हुए जीवाणुओं की रक्षा के लिए मुँह पर पट्टी बाँधो। दूसरी ओर हिन्दुस्तानियों ने कमजोर इक्का-दुक्का व्यक्तियों की पीठ में छुरा भोक्ना भी सीख लिया। लेकिन बीच में बराबर या बड़ी ताकत वाले के सामने खड़े होकर लड़ना, चाहे खाली मरना, या मारना-मरना वे भूल गये। लोहिया ने चाहा कि हिन्दुस्तान के लोग स्वेच्छा से मरना सीखें।

लेकिन लोहिया ने यह भी देखा कि इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में फर्क करना जरूरी है। राष्ट्र के अन्दरूनी मामलों में उन्होंने जगह-जगह 'अहिंसक-क्रांति' और अहिंसा को समान महत्व दिया है। लेकिन अपने जीवन के अंतिम काल में एक ओर तो उन्होंने यह कहा था कि अहिंसा पर मेरा विश्वास पूर्ववत् है, लेकिन मुझे डर है देश का इतिहास शायद दूसरे रास्ते चले, दूसरी ओर 'दूसरे रास्ते' चलने वालों के अधिकार को उन्होंने स्वीकार किया था, कि अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाले हिंसात्मक उपायों से लड़ें, इसका भी

है कि उन्होंने ऐसी नीतियों को, ऐसे नैतिक नियमों अर्थात् राज्य और समाज के विभिन्न स्तरों पर आचरण के ऐसे नियमों को प्रतिष्ठित किया जो सगुण और निर्गुण सत्य को जोड़ते थे। यही कारण है कि वे एक साथ दो बातें कहते दिखाई देते हैं—पलटन को खतम करो। लेकिन जब तक पलटन है, तब तक अच्छी पलटन रहे, और अच्छी तरह लड़े।

भिन्न सन्दर्भ में लोहिया ने सामाजिक संगठन के द्वारा श्रेय और प्रेय को जोड़ने की बात कही, जो बुनियादी तौर पर वही बात है। 'कामिनी-कंचन' से मुक्ति की बात भारतीय दृष्टि में व्यक्ति के स्तर पर है, समाज के स्तर पर नहीं। लोहिया ने 'कामिनी' को इससे अलग करके स्त्री के लिए पुरुष, और पुरुष के लिए स्त्री को समान महत्त्व दिया—व्यक्ति और समाज दोनों ही स्तरों पर। दोनों स्तरों पर स्त्री-पुरुष में अलगाव नहीं हो सकता, पारस्परिकता ही हो सकती है। इसी के साथ सम्पत्ति-मोह को केवल व्यक्ति के स्तर पर त्याज्य मानने का परिणाम लोहिया ने देखा कि उलटा होता है—अपने लिए अपरिग्रह, कुटुम्ब के लिए संचय। और चूँकि कुटुम्ब के लिए कर्तव्य समझ कर संचय किया जाता है, इसलिए उसमें नीति-अनीति का कुछ भी ध्यान नहीं रह जाता। इसलिए लोहिया ने अपरिग्रह के अनुरूप सामाजिक संगठन में भी निजी सम्पत्ति को समाप्त करने की बात कही।

इस तरह, लोहिया की दृष्टि व्यक्ति के प्रेम को अनुकूल सामाजिक संगठन के जरिये श्रेय से जोड़ती है, और इस प्रक्रिया में उभरने वाले नैतिक नियमों को मनुष्य और समूचे विश्व के मानव-समाज की आध्यात्मिकता से। लेकिन लोहिया केवल दार्शनिक नहीं थे, बल्कि उनके दर्शन में दार्शनिक और कर्मयोगी एक दूसरे से घुले-मिले हैं। और जब वे अपनी समूची विचार-व्यवस्था की व्यावहारिक व्याख्या करते हैं, सगुण सत्य और निर्गुण सत्य के बीच पारस्परिकता की खोज करते हैं (दोनों को एक ही समझ बैठने की भूल के विरुद्ध वे बराबर चेतावनी देते हैं) तो यह तथ्य सामने आता है कि विश्व इतिहास के मंच पर केन्द्र में केवल दो ही ब्राह्मण राष्ट्र हैं। अहिंसा और आत्मघात के बीच चुनाव मूलतः इन्हीं दोनों को करना है। दुनिया के शेष राष्ट्र खासतौर पर गोरी सभ्यता के बाहर के राष्ट्र उसी तरह इतिहास के मंच के बाहर हैं, जैसे स्वयं भारतीय इतिहास में हरिजन और अन्य पिछड़े समूह। यहाँ नैतिकता और आध्यात्मिकता के बीच जो खाई है, उसे लोहिया ने पहचाना। रंगीन चमड़ी वाले राष्ट्रों के लिए नीतिविहीन आध्यात्मिकता का वही मतलब हो सकता है जो भारत में हरिजनों के लिए रहा है—बिना विरोध के अन्याय की स्वीकृति। यहीं सत्याग्रह का महत्त्व है। लेकिन उस व्यक्ति के 'सत्याग्रह' को आप क्या कहेंगे, जिसे स्वयं तो हिंसा से कोई परहेज न हो, जो बराबर लाठी-गोली का इस्तेमाल करता है, लेकिन राज्य की विशाल शक्ति का सामना होने पर सत्याग्रही बन जाए? कुछ वैसी ही स्थिति उन देशों की भी होती है जो पलटन रखते तो हैं, छोटे-मोटे अवसरों पर उसका इस्तेमाल भी करते हैं, लेकिन बात करते हैं शांति की, युद्ध न करने की, और सचमुच उन कामों में पलटन का इस्तेमाल नहीं करते जिनके लिए पलटन होती है।

मिसाल के लिए, भारत सरकार के रक्षा मंत्री ने लोकसभा में खुने ग्राम यह स्वीकार किया कि भारत की पलटन न इस लायक है कि सीमा-रक्षा के लिए (चीन से भारत की

भूमि खाली कराने के लिए) उसका इस्तेमाल हो सके, न यह भारत सरकार के सिद्धान्तों के ही अनुकूल है। यह बात चीन और पाकिस्तान दोनों के सन्दर्भ में सच है। चीन के मामले में प्रत्यक्ष और पाकिस्तान के मामले में अप्रत्यक्ष, कि पलटन वहीं तक लड़ सकती है जहाँ तक रूस और अमरीका इसकी इजाजत दें। तो फिर पलटन है किसलिये? स्पष्टतः, राष्ट्र के अन्दर राज्य सत्ता की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए।

ऐसी सूरत में दो विकल्प हैं : एक यह कि पलटन का इस्तेमाल किया जाए, उन कामों के लिए जिनके लिए वह है। दूसरा यह कि पलटन को बरखास्त कर दिया जाए। लोहिया खुद दूसरे विकल्प को स्वीकारते हैं क्योंकि उसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता दोनों हैं। लेकिन वे पहले विकल्प को नकारते नहीं, क्योंकि वह आज की स्थिति से कम से कम एक कदम आगे जाता है। उसमें अगर आध्यात्मिकता की फिलहाल नहीं, तो कम से कम नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है, जबकि आज की स्थिति में नैतिकता और आध्यात्मिकता दोनों का पूर्ण अभाव है। नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है, और आध्यात्मिकता का भी रास्ता खुलता है क्योंकि अखिर बिना हथियारों की दुनिया भी तो तभी बन पाएगी जब न्याय की प्रतिष्ठा हो।

हम हिन्दी में काम क्यों करें ?

विपिन कुमार अग्रवाल

सोचने का और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भावना और भाषा का भी गहरा आपसी लगाव है। मेरे ऊपर जब विपत्ति आती है तो मैं ईश्वर को हिन्दी में याद करता हूँ, पुकारता हूँ। मुझे लगता है मेरा ईश्वर अंग्रेजी नहीं समझेगा। मैं जब छोटे बच्चे को प्यार करता हूँ तो तुतलाने का अभिनय हिन्दी में करता हूँ। मुझे अंग्रेजी में तुतलाना अभी तक नहीं आया; वैसे शायद जो भी अंग्रेजी बोलता हूँ वह तुतलाना ही है। खैर, इतना सहज ही कहा जा सकता है कि मेरे गहन, निजी और आन्तरिक जीवन का सीधा और अटूट सम्बन्ध मेरी मातृभाषा से है। मैं रोज़ अखबार अंग्रेजी में पढ़ता हूँ, अपने विद्यार्थियों से वैचारिक आदान-प्रदान अंग्रेजी में करता हूँ, और अपनी बौद्धिक परिपक्वता अंग्रेजी की किताबों के सहारे हासिल करता हूँ। इसलिए मेरा बाह्य वैचारिक संसार एक धातु का बना हुआ है और आन्तरिक भावनात्मक जीवन दूसरी धातु में ढला हुआ है। मैं जैसे खुद दो हूँ। और इन दोनों में पृथक्ता है, दूरी है, एक दूसरे से अपने को गुप्त रखने की आदत है। फलस्वरूप, मेरा जीवन सरल है। भाव विचार पर प्रभाव नहीं डालते और विचार भाव को छूने से डरते हैं। भाव भाव से टकराते हैं और विचार विचार से, बस। दोनों के स्थायी तत्त्व और माप अलग-अलग हैं। अन्दर और बाहर के बीच एक खाई है।

अखबार में दावत और भुखमरी की बगल-बगल छपी खबर हमारे अन्दर घँस कर क्रोध नहीं पैदा करती। हर खबर अलग-अलग विचार पैदा करती है। कुछ देर बाद यह प्रक्रिया दिमाग ही में समाप्त हो जाती है। वैचारिक दिक् में एक बिन्दु बन कर ढँक जाती है। इस प्रकार आन्तरिक दिक् और वैचारिक दिक् अलग-अलग अनुभवों के बिन्दुओं से भर जाते हैं। पर एक दिक् का बिन्दु दूसरे दिक् के बिन्दु से सम्बन्धित नहीं हो पाता। इस प्रकार के तनाव के अभाव में दोनों ही अनुभव जटिलता से अतिरंजित नहीं हो पाते। एक दूसरे से कोई लाभ नहीं उठा पाते। साथ ही, यह स्थिति एक भयानक अंधेपन को जन्म देती है। एक ओर हमारे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में काम करते हैं दूसरी ओर रोज़ गंगा नहाते हैं, सत्यनारायण की कथा सुनते हैं, दवा के रूप में जड़ी-बूटी खाते हैं और भृगुसंहिता और प्रेतात्माओं में विश्वास करते हैं। हमारी ईश्वर के बारे में धारणा बहुत बचकानी हो सकती है पर इतिहास, विज्ञान या अर्थशास्त्र की समझ विस्तृत, गहरी और आधुनिक हो सकती है। या स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है, जैसे साधुओं की। यह बेमेल स्थिति हमें या उन्हें चौंकाती नहीं, सोचने के लिए मजबूर नहीं करती, क्योंकि हमें और उन्हें देखती ही नहीं। दोनों को अलग-बगल रख कर परखा ही नहीं जाता। दोनों के दिक् अलग हैं और माप पृथक् है। इस पृथ-

कता की जनक दो भाषाएँ हैं—एक हृदय की हिन्दी और दूसरी मस्तिष्क की अंग्रेजी। अतः हम वास्तव में जानते भी नहीं कि एक दिक् की राशि की दूसरे दिक् की राशि से कैसे तुलना की जाए। कभी-कभी बौद्धिक होने के नाते जबर्दस्ती यह तुलना करते हैं। जब भी ऐसा प्रयास करते हैं तो नतीजा ऊल-जलूल निकलता है। जो कुछ भी आस्था थी, दिशा थी, उससे भी हाथ धो बैठते हैं। भारतीय बौद्धिक की अनास्था के पीछे यही रहस्य है। दो भाषाएँ इसके जड़ में हैं।

अध्यापक होने के नाते मेरे जीवन का एक पहलू है जिसमें अपने ज्ञान और अपनी समझ को दूसरे तक पहुँचाने का विशेष महत्त्व है। विदेशी भाषा में अपनी पूरी बात को जिगरी अन्दाज में कह पाना नामुमकिन है। बात कहते समय भाषा का उपयोग साधन या औजार के रूप में ही होता है। पर विदेशी भाषा का प्रयोग अपने में एक अंत बन जाता है और विचार एक साधन मात्र जिसके बहाने हम विदेशी भाषा का नुमाइशी प्रयोग करते हैं। यह अदा की अदला-बदली बौद्धिक वातावरण के लिए घातक है। यही कारण है कि अक्सर हम उतना कही हुई बात पर मुग्ध नहीं होते जितना कि बोलने वाले की भाषा पर हो जाते हैं। इसमें और मध्यवर्गीय माताओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता जो अंग्रेजी स्कूल में पढ़े अंग्रेजी में गाली बकते अपने बच्चे को अपलक प्रशंसा से भरी नज़रों से देखती ही रह जाती हैं। बोलने वाला और सुनने वाला, दोनों ही जब इस दिशा में भुक् जाँ तब सिवाय साधारण कोटि के अपार्थिव और धुंधले चिंतन के और कुछ मुमकिन नहीं रह जाता। विदेशी भाषा द्वारा सजित इस वातावरण का प्रभाव देश के लोगों के मानसिक जीवन पर भी पड़ता है। यह नतीजा निकलने लगता है कि मनोभाव, दर्शन और धर्म में स्पष्टता और दक्षता की आवश्यकता नहीं है। एक बार स्पष्टता और दक्षता की माँग कमजोर पड़ जाने पर उसे पुनः स्थापित करना असाध्य कार्य हो जाता है। एक आलस्य का और काम चलाऊ प्रवृत्ति का राज फैल जाता है। ऐसा हमारे देश में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण हुआ है।

अधिक व्यावहारिक स्तर पर मेरी समस्या है कि कैसे अपना विषय विद्यार्थियों को समझाऊँ। अब तक मैं अपना विषय अंग्रेजी में ही पढ़ाता था। कभी सोचता हूँ कि किस पूर्वाग्रह के कारण मैं इतने दिनों तक ऐसा करता आया? विश्लेषण करते ही इसके पीछे दो धारणाएँ काम करती हुई मालूम होती हैं; (१) मेरे विद्यार्थी और मैं अंग्रेजी जानते हैं, और (२) मेरे विषय का साहित्य अंग्रेजी में ही उपलब्ध है।

मेरे विद्यार्थियों ने और मैंने अंग्रेजी सीखना तब से शुरू किया जब से स्कूल जाना। मैंने अपनी अंग्रेजी आरम्भ में एक पंडित जी से सीखी। घर में कभी बोली नहीं। अंग्रेजी बोलने और लिखने में जो गलतियाँ करने की आदत पड़ गयी वह अब तक सुधरी नहीं और न सुधरेगी, क्योंकि उसके लिए मेरे पास कान नहीं है। कहाँ मैं गलत प्रयोग करता हूँ और उसी का अन्य लोग सही प्रयोग करते हैं। इसे स्वयं सहज ही पकड़ लेने की क्षमता मुझ में नहीं है। विदेशी भाषा के लिए यह क्षमता बिरलों के पास ही होती है। अंग्रेजी मेरे लिए अपने जीवन का वृहत् और बहुमूल्य समय लगा कर सीखी हुई भाषा है और इस सिलसिले में गलतियाँ भी खूब मश्क हो गयी हैं। ऐसा मैं समझता हूँ कि औरों के साथ भी हुआ होगा। सिर्फ़ उनकी गलतियाँ भिन्न होंगी। जब दो ऐसे विभिन्न गलतियाँ मश्क करे लोग विदेशी भाषा में

विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तो लगता है एक व्याह की विशाल कढ़ाई में दो आलू उबालने की कोशिश की जा रही है। न विचार सम्हालते बनता है, न भाषा। विचार छोटे होते जाते हैं, भाषा बढ़ती जाती है और उसी अनुपात में गलत भाषा का प्रयोग अधिक बार होने लगता है। आदमी कहना कुछ चाहता है, कह कुछ जाता है, और समझने वाला उसका कुछ और ही माने लगा लेता है। ऐसे वाद-विवादों के बाद घर लौट कर अक्सर लोग कोष का अध्ययन करते हुए भी पाए गए हैं। अध्यापन कार्य में इस स्थिति से बहुत कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं, जहाँ कि स्पष्ट और सही होना विशेष माने रखता है।

अपने निजी अनुभव को बतलाने की छूट लूँ तो कहना चाहूँगा कि बी० एस-सी० में अँग्रेजी में पढ़ाते समय मेरे मन में एक भाव यह भी रहता था कि एम०-एस-सी० में जा कर इन लोगों को अँग्रेजी में सब काम करना ही पड़ेगा। अतः अभी से इन लोगों को आदत पड़नी चाहिए। इसके अर्थ यह हुए कि उनके अँग्रेजी के अधकचरे ज्ञान को मैं पढ़ाते समय पूरा भी कर रहा था और विषय भी पढ़ा रहा था। अँग्रेजी की शिक्षा देने का इससे ज्यादा गलत और अदृष्ट तरीका सोच पाना मुश्किल है। जब मैं इस नतीजे पर पहुँच गया तब बी० एस-सी० और एम० एस-सी० दोनों ही में हिन्दी में पढ़ाना आरम्भ कर दिया। मुझे पहले यह कार्य मेरे ही विभाग के डा० बालकृष्ण श्रीवास्तव कर चुके थे। पर यहाँ अपने अनुभव तक ही बात को सीमित रखना चाहूँगा। शुरू में मुझे आदत न होने के कारण अपने विषय पर हिन्दी में बोलने में कठिनाई अवश्य हुई पर इससे जो कमी पैदा हुई उससे कहीं अधिक इस कारण पूरी हो गयी कि विद्यार्थियों की ग्रहण शक्ति बहुत बढ़ गयी। अब जो कुछ मैं उन्हें बताता था उसे वह सूचना के रूप में न लेकर वास्तव में समझ कर सोख रहे थे। विषय में रुचि अधिक दिखला रहे थे। विषय कोई दूर का या किसी विशेष कठिनाई में लिपटा हुआ न लग कर अपना और आसान लगने लगा। अब भाषा के कारण जो उदाहरण मैं चुनने लगा वह भी भिन्न और अधिक परिचित हो गए, 'बूंद बूंद कर के समुद्र भर जाता है' कटोरे ऐसी सतह' जैसे मुहावरे और बिम्ब स्थिति का आसानी से न भुलाए जा सकने वाले रूप में चित्रण करने लग गए। विज्ञान की समस्या रोज की बोलचाल की भाषा में वर्णित हो जाने पर आसान और निजी लगने लग गयी, और कुल मिला कर जैसे बीच की एक दीवार हट गयी। यह चीज मैंने भी महसूस की और विद्यार्थियों ने भी। इससे यह साबित हो गया कि विद्यार्थी और मैं, दोनों ही वास्तव में अँग्रेजी को उस हद तक नहीं जानते थे जिस हद तक मुक्त और सहज रूप में किसी विषय को समझा या समझ पाने के लिए जरूरी है। हिन्दी में यह मुमकिन हो सका। अतः पहली धारणा, कि हम सब अँग्रेजी जानते हैं, गलत थी। पर इससे अधिक आश्चर्यजनक बात यह हुई कि इसी सिलसिले में मैं इस नतीजे पर भी पहुँच गया कि दूसरी धारणा तथ्य में सही होते हुए भी भ्रामक है। आज १९६८ में यह सही है कि मेरे विषय का साहित्य हमारे पुस्तकालयों में केवल अँग्रेजी में ही उपलब्ध है। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि इसीलिए अँग्रेजी में ही विषय पढ़ाया जाए, एकदम गलत है। सच कहूँ तो हिन्दी में जब मैंने पढ़ाना शुरू किया था तब मन में एक संकोच और अपराध की भावना थी कि जैसे मैं अपने विद्यार्थियों को हिन्दी में पुस्तकों के अभाव में एक गलत दिशा में ले जा रहा हूँ। उन्हें कहीं निर्जन रेगिस्तान में ले जाकर

छोड़ दूँगा और फिर वे बिचारे क्या करेंगे। एक दिन मैंने यह भी सोचा कि पहले उस विषय पर एक हिन्दी में किताब लिख दूँ, तब पढ़ाना आरम्भ करूँ। पर फिर यह जानते हुए कि लड़के कम से कम मेरी बात ज्यादा समझेंगे और आशा लगा कर कि आगे-पीछे कोई न कोई किताब हिन्दी में आ ही जाएगी, मैंने हिन्दी में पढ़ाना शुरू कर दिया। पर आश्चर्य तब हुआ जब मैंने पाया कि मेरे विद्यार्थी न केवल मेरी बात को ज्यादा समझ पा रहे हैं बल्कि उसके बाद अपनी अंग्रेजी में लिखी हुई पुस्तक को भी अधिक समझ रहे हैं। बात बहुत सीधी थी। कच्चा में विषय को एक बार स्पष्टतः ग्रहण कर लेने के बाद वे जान गए कि अब पुस्तक में से उन्हें क्या माने निकालना है। अपने अंग्रेजी के सीमित ज्ञान के बावजूद वे पुस्तक का अधिक दक्ष उपयोग करने की स्थिति में आ गए। इसके पहले कच्चा में अंग्रेजी में सुनते वक्त वे आधा ही समझते थे और पुस्तक का उपयोग शेष आधे को भरने के लिए करते थे। पर अंग्रेजी के सीमित ज्ञानवश किसी भी सीढ़ी पर आत्मविश्वास से कार्य नहीं कर पाते थे। इस सब के फलस्वरूप, अस्पष्ट समझ और तकनीकी शब्दावली का एक धक्का ही उनके हाथ लगता था जिसे वे परीक्षा के लिए किसी तरह याद कर लेते थे। उसे पचा पाने के लिए जो आवश्यक पूर्व शर्तें हैं वह पूरी ही नहीं होती थीं। यह मेरे लिए एक नयी खोज हुई कि विदेशी भाषा के सीमित ज्ञान से पुस्तकालय के भरपूर उपयोग करने के लिए मातृभाषा में एक बार पढ़ना-पढ़ाना आवश्यक है। अतः कोई आवश्यक नहीं है कि जब तक हिन्दी में पुस्तकें न हो जाएँ, तब तक हिन्दी में पढ़ाया न जाए। बल्कि उनके अभाव में ऐसा करना और जरूरी है।

कोई भाषा शून्य में फलती-फूलती नहीं है। उपयोग से ही भाषा में निखार और परिपक्वता आती है। अक्सर कहा जाता है कि हिन्दी साहित्य का स्तर अंग्रेजी के साहित्य के स्तर से अभी बहुत नीचा है। पहले हिन्दी परिपक्व हो ले, स्तर पर आ जाए, तब हम उसे स्वीकार करेंगे, इत्यादि। इस आग्रह के पीछे भी ऊटपटांग विचारों का ढेर है। जैसे इसी बात को लीजिए कि हिन्दी साहित्य का स्तर अंग्रेजी साहित्य से नीचा है। बात कुछ ठीक और कुछ ग़लत हो सकती है लेकिन संदर्भ से अलग नारे के रूप में रखने पर यह भी लग सकता है कि तब तो हिन्दी बेकार भाषा है। पर दो भाषाओं के आपसी स्तर की बात अर्ध-सत्य है, इसलिए भ्रामक है। इसके साथ यह भी जोड़ना आवश्यक है कि पूरे देश का स्तर भी अंग्रेजी के देश से नीचे है। पर इससे देश बेकार नहीं हो जाता। या यह कहना मूर्खता ही होगा कि पहले देश अपना स्तर ऊँचा कर ले तब हम आकर उसमें रहेंगे। यद्यपि ऐसी बात भी कहने वाले भारतीय, विशेषकर वैज्ञानिक, मिल जाएँगे जो नुमाइशी अंग्रेजी (या अमरीकी अंग्रेजी) बोलते हैं और विदेश में कार्य करते हुए प्रतीक्षा कर रहे हैं कि भारत अपना स्तर ऊँचा कर ले तो वे लौट आएँ। वे अगर हिन्दी के बारे में भी ऐसा कहें तो उन्हें शायद शोभा दे। पर उनका क्या किया जाए जो कि और इन वैज्ञानिकों को तो उपदेश देंगे कि अपने देश में रहें और अपनी शक्ति यहाँ का स्तर ऊँचा करने में खपाओ और दूसरी ओर हिन्दी से आशा करेंगे कि पहले वह अपना स्तर उठा ले तब वे उसे स्वीकारें। इनकी बात में आन्तरिक विरोधाभास है। पर इतना ही नहीं है। हिन्दी के लेखक की तुलना में अंग्रेज साहित्यकार को रखना अनुचित है। यहाँ प्रश्न हमें यह हल करना है कि हम खुद हिन्दी का

प्रयोग अधिक श्रेयस्कर रूप से कर लेते हैं या अँग्रेजी का। किस भाषा के उपयोग से हम भविष्य में अधिक अच्छा काम कर सकेंगे, अपनी सर्जन शक्ति का अधिक विकास कर सकेंगे, और अधिक आत्मविश्वास पा सकेंगे। अगर प्रश्न स्पष्ट है तो इसका उत्तर हिन्दी के लेखक की तुलना अँग्रेज लेखक से करने पर नहीं मिलेगा बल्कि उसकी तुलना अन्य भारतीय अँग्रेजी के लेखकों से करने पर मिलेगा। इस तुलनात्मक अध्ययन में भारतीय हिन्दी साहित्य भारतीय अँग्रेजी साहित्य से कोसों आगे उतरेगा। यह निर्विवाद है अतः प्रमाणित करता है कि मातृ-भाषा में सर्जनशक्ति अपने परम पूर्ण रूप में फलती-फूलती है, जब कि वातावरण पिछड़ा हुआ और प्रोत्साहन न देने वाला हो, तब भी। इसका कारण है कि अपनी भाषा में जब हम अपने को अभिव्यक्त करते हैं तो पूरे आत्म विश्वास के साथ और मुक्त होकर करते हैं। किसी भी सर्जनात्मक चिंतन के लिए यह पहली शर्त है। जो साहित्य के लिए सही है वह और विषयों के लिए भी। सर्जन के लिए नियम अलग-अलग नहीं होते। यदि हिन्दी में लिखने से साहित्य में हम अग्रणी हो सके तो कोई कारण गहीं है कि हिन्दी में कार्य आरम्भ करने पर अन्य दिशाओं में भी हम आगे न बढ़ जाएँ। यह अधिक मुमकिन इसलिए भी होगा कि तब देश के अधिक लोग इस सृजनात्मक कार्य में भाग ले सकेंगे। तब हमारे विशेषज्ञ की भाषा में और उसकी खोजों का उपयोग करनेवाले स्थानीय कार्यकर्त्ता की भाषा में अन्तर नहीं होगा। वे आपस में समस्याओं और सुझावों का आदान-प्रदान कर सकेंगे। ऊपर से नीचे तक एक अटूट और सीधी सरल शृंखला बन जाएगी। हमारे शोधकार्य में यथार्थता आ जाएगी। उसका आधार ठोस हो जाएगा। उसकी दिशा निर्धारित हो जायेगी। उसकी सार्थकता का माप निर्मित हो जाएगा। उसका उपयोग अधिक मात्रा में और अधिक दूर तक किया जाने लगेगा। एकबार यह क्रम-क्रियाशील होने पर गति और आकार दोनों में पनपेगा। और हम शीघ्र ही अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे।

भाषा का व्यापक, गहरा और अटूट सम्बन्ध सांस्कृतिक जागरूकता से होता है। कोई भी देश बहुत अरसे तब पराधीन रहने पर और विजेता का रहन-सहन, प्रणाली, और भाषा अपना लेने पर भी अपनी सांस्कृतिक सजगता को अपनी मातृभाषा में लिखी या बोली गयी कविता या लोकगीत में दबी आग की तरह संजोए रहता है। इसे दूसरी तरह से कहें तो उसे विदेशी रंग-ढंग अपनाने में कठिनाई नहीं होती पर विदेशी भाषा में कविता लिखने का शऊर कभी नहीं आता। अतः हमारी सांस्कृतिक जड़ें मातृभाषा में सुरक्षित रहती हैं। अगर हमें उसका सृजनात्मक विकास करना है तो उसी भाषा के संदर्भ में यह मुमकिन हो सकेगा।

अक्सर अच्छी नियत वाले समझदार लोग कहते हुये पाये गये हैं कि अँग्रेजी में हमें अपना कार्य इसलिए करना चाहिये क्योंकि यह बहुत शक्तिशाली भाषा है और इसके द्वारा हमें पश्चिम का समस्त चिंतन सहज ही प्राप्त है, हमारी अँग्रेजी पश्चिमी ज्ञान के लिए हमारी खिड़की है। यह सही हो सकता है। पर क्या हमने तय कर लिया है कि हमें इस देश का सारा भविष्य खिड़की से झाँकने के लिए अर्पित कर दिया है? यदि हमारी महत्वाकांक्षा सिर्फ दूसरों के चिंतन के फल को सामग्री के रूप में देखने, एक हद तक उपयोग करने, प्रशंसा करने और उससे मुदित होने तक ही सीमित है, तो इस पर किसी को कुछ नहीं कहना शेष रह जाता है। पर अगर हम चिंतन को खिड़की में सजे बने माल की तरह नहीं देखते बल्कि उसके सृजन में रुचि

रखते हैं, हिस्सा लेना चाहते हैं, अपने मनुष्य और भारतीय होने की परिभाषा में मुख्य स्थान देते हैं, तो सिर्फ अपने पिछले १०० वर्ष के चिंतन के इतिहास से और वर्तमान से हमें यह पाठ मिलना कठिन नहीं होना चाहिए कि यह अभिलाषा मातृभाषा में ही कार्य करके पूरी हो सकती है। अब तक जितनी भी और जब भी पूरी हुई है, इसी में हुई है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य जीवन में तार-तम्य बनाये रखने के लिए जो कि उसकी आस्था का आधार है, विचार के स्पष्ट और दृढ़ आदान-प्रदान के लिए जो कि समाज के व्यवस्थित रूप से संगठित और क्रियाशील होने के लिए आवश्यक है, और देश की सृजनात्मक शक्ति के मुक्त विकास के लिए जिसके बिना आत्मविश्वास, चिंतन, और सांस्कृतिक चेतना में वृद्धि नामुमकिन है, यह अनिवार्य मालूम पड़ता है कि हम हिन्दी का प्रयोग अभी से आरम्भ कर दें।

दृष्टिकोण

बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण

आज भारतीय अर्थव्यवस्था एक गम्भीर संकट का सामना कर रही है, ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था को संकट मुक्त करने के लिये एक निश्चित नीति के साथ उचित मार्ग पर कदम बढ़ाने की आवश्यकता है। इस चिन्ताजनक अवरोध (Recession), निष्क्रियता एवं मुद्रास्फीति की अवस्था में सरकार की आर्थिक वृद्धि, उत्पादकता, एवं स्थिरता की मूलभूत समस्याओं का समाधान देश के भावी आर्थिक विकास के सन्दर्भ में करना है। वर्तमान स्थिति में एक सुदृढ़ नियोजित विकास नीति की अत्यंत आवश्यकता है जो अर्थव्यवस्था में विनियोग तथा उत्पादकता के मध्य उचित सन्तुलन उत्पन्न कर सके, उसके अलावा अनुत्पादक व्ययों पर भी तीव्र नियंत्रण रखा जा सके। यह निश्चित रूप से सत्य है कि किसी भी अर्थव्यवस्था की प्रगति हेतु क्रियान्वित विकास योजनाओं में वित्तीय साधनों का पक्ष महत्वपूर्ण होता है। उपर्युक्त उद्देश्य पूर्ति में प्रारम्भिक दशा में बैंक-वित्त विशेष योग प्रदान कर सकता है।

अब भारत में बैंक उद्योग काफी विकसित हो चुका है तथा भारत के आर्थिक विकास में बैंकों ने मुख्य रूप से भाग लिया है। किसी अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होने की दशा में, सार्वजनिक बचत के अभाव के कारण सामान्यतः सरकार वाणिज्यिक बैंकों का उपयोग, विनियोजन योग्य पूँजी के संग्रहण में करती है। यही कारण है कि विकासशील देशों के आर्थिक विकास की प्रक्रिया में वाणिज्यिक बैंकों ने उत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की है।

भारत के वर्तमान आर्थिक संकट के क्षणों में, भारतीय बैंकों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे अपनी साख नीतियों में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन लायें जिससे सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। यद्यपि बैंकों के राष्ट्रीयकरण अथवा सामाजीकरण का प्रश्न भारत के लिये कोई नया नहीं है, किन्तु इस बार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में इस प्रश्न को गम्भीरतापूर्वक उठाया गया। उपप्रधानमंत्री मुरारजी देसाई ने इस प्रश्न का समर्थन करते हुये बैंकों से उनकी साख-नीतियों में यथोचित सुधार हेतु सुझाव दिया। वर्तमान समय में, इस बात का अनुभव किया गया है कि बैंकों ने लघु उद्योगपतियों तथा कृषकों की भयंकर उपेक्षा की है। यह आवश्यक है कि भारतीय बैंकों को लघु उद्योगपतियों तथा छोटे किसानों को पर्याप्त साख सुविधाएँ, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हेतु प्रदान करना चाहिये।

इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आजकल भारतीय अर्थव्यवस्था एक गम्भीर रोग से पीड़ित है तथा अनेक समस्याएँ ही वर्तमान आर्थिक अवरोध का कारण है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि पूर्ण निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये ऐसी आधारभूत

नीतियों का पालन किया जाना चाहिये, जो देश के लिये सहायक सिद्ध हो सकें। भारतीय अर्थव्यवस्था सुधार हेतु अपनी सेवाएँ प्रदान करने के लिये बैंकों को आगे आना चाहिये।

इंडियन बैंकर्स एसोसिएशन के अध्यक्ष ने मुरार जी देसाई के प्रश्न के जवाब में उचित ही मन्तव्य प्रकट किया है कि यदि सरकार राजनीतिक उद्देश्यों से साखनीति में शीघ्र एवं अनुचित परिवर्तन लाती है तो वे घातक रूप से खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। ये परिवर्तन जमाधारियों के लिये ही हानिप्रद नहीं होंगे वरन् इससे सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था प्रभावित होगी। अध्यक्ष महोदय ने इस संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भी प्रकट किया कि भारतीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के कुशल नियंत्रण एवं कठोर नियमन के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं; फिर भी उन पर क्यों अन्य नियंत्रण लगाये जाते हैं? यदि सरकार यह चाहती ही है कि बैंकों की साख नीति में कुछ विशेष परिवर्तन लाना है तो वह रिजर्व बैंक को इस सम्बन्ध में आदेश क्यों नहीं देती? यह सत्य है कि बैंकों की अधिकांश साख बहुत वृहत् औद्योगिक क्षेत्र को प्राप्त हुई है, इसका प्रमुख कारण यह कि विगत दो पंचवर्षीय योजनाओं में इस क्षेत्र के विकास एवं विस्तार हेतु विशेष महत्त्व प्रदान किया गया था। बैंकों ने किसानों को—कृषि-वित्त प्रदान करने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया है। बैंकों को वर्तमान खाद्यान्न अभाव की भीषण परिस्थिति में कृषि वित्त प्रदान करने का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिये।

जहाँ तक लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने का प्रश्न है, बैंकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने उत्तरदायित्व को निबाहा है। वास्तव में सरकार को बैंक-वित्त के प्रवाह को अनेक सामाजिक उद्देश्यों की दिशामें इस ढंग से आकर्षित करना चाहिये ताकि बैंकिंग प्रबन्ध में किसी प्रकार की गड़बड़ी पैदा न हो सके तथा भारत में बैंकिंग की प्रवृत्ति अवरुद्ध न हो पाये। इसके अलावा बैंकों को राष्ट्रीय हितों के लिये सक्रिय सेवा प्रदान करने में उचित-प्रोत्साहन प्राप्त हो सके जो कि नियंत्रणात्मक कदम उठाने से संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में, जापान और अमेरिका के उदाहरण हमारे समक्ष हैं जहाँ अधिकांश बैंकों ने नये उद्योगों की स्थापना हेतु सहायता प्रदान की। आज ये उद्योग ही पूर्ण विकास की दशा में हैं तथा अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान कर रहे हैं। वास्तव में भारतीय बैंकों ने छोटे उद्योगों के विकास हेतु यथोचित सहायता प्रदान नहीं की है। कृषि के क्षेत्र में बैंकों का योगदान नगण्य है, यद्यपि तथ्य सर्वथा सत्य है कि लाखों किसानों की साख संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति, सीमित साधनों के कारण, वाणिज्यिक बैंकों की क्षमता के परे है।

विगत कुछ वर्षों से बैंकों के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न प्रमुख चर्चा का विषय बना हुआ है तथा इसके पक्ष एवं विपक्ष में अनेक विद्वानों द्वारा प्रकट किये गये तर्क प्रकाश में आये हैं। बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में ये तर्क प्रस्तुत किये गये हैं कि अर्थव्यवस्था के सामाजीकरण के लिये यह एक आवश्यक कदम है। वर्तमान समय में प्राइवेट बैंक राष्ट्रीय नीति के प्रतिकूल एवं विरुद्ध दिशा में कार्य कर रहे हैं। उन्होंने आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण तथा व्यापारिक एकाधिकारों के निर्माण में सहायता प्रदान की है तथा अपने साधनों का दुरुपयोग संचालकों व उनसे संबंधितों के लाभ हेतु किया है। बैंकों ने अपनी कृष्ण नीति तथा विकास प्राथमिकताओं के बीच सामंजस्य नहीं रखा है तथा असामाजिक क्रियाओं जैसे परिकल्पना, जमाखोरी

आदि को बढ़ावा दिया है।

प्राइवेट बैंकों के द्वारा जनता की बचत के दुरुपयोग से सुरक्षा हेतु बैंकों पर उद्योगपतियों के नियंत्रण को रोकने के लिये, बृहत पैमाने पर साधनों को आर्थिक विकास के लिये गतिशील बनाने के लिये, साख नीति का नियमन करने के लिये, तथा बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाना अत्यंत आवश्यक समझा गया है। यद्यपि बैंकों के राष्ट्रीयकरण की नीति के विरोध में भी उपर्युक्त आरोपों का खंडन करते हुये तर्क प्रस्तुत किये गये हैं कि इससे योजनाओं के लिये पर्याप्त राशि प्राप्त नहीं हो सकती, सरकार को बैंकों का लाभ प्राप्त नहीं होगा, बैंकिंग प्रणाली लोच हीन हो जायेगी तथा इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण बैंकिंग प्रबन्ध ही अव्यवस्थित हो जायेगा।

संक्षेप में, यह उल्लेखनीय बात है कि भारतीय अर्थ व्यवस्था की वर्तमान स्थिति में बैंकों को और भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण योगदान करने के लिये आगे आना चाहिये। बैंकों को लघु-उद्योग एवं कृषि के क्षेत्र में अधिक सुविधाएँ प्रदान करना चाहिये। बैंकों को इस प्रकार का उचित नियंत्रण एवं पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया जाना चाहिये कि वे राष्ट्रीय हित में अधिक से अधिक जिम्मेदारियों का भार वहन कर सकें।

—रमेशकुमार भारती

आर्थिक मंदी—सत्य व तथ्य

सहअस्तित्व से आपको चाहे कितना ही हार्दिक लगाव हो, हमारे देश की वर्तमान परिस्थिति में सहअस्तित्व ने अनेक परस्पर विरोधी स्थितियों को जन्म दिया है। निजी क्षेत्र और सरकारी क्षेत्र के सहअस्तित्व, गरीबी और अमीरी के सहअस्तित्व व पूँजीवाद और समाजवाद के अतिरिक्त एक नये सहअस्तित्व ने हाल ही में लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, वह स्फीति और मंदी का सहअस्तित्व है। आज भारतीय अर्थ व्यवस्था एक परस्पर विरोधी स्थिति का सामना कर रही है। एक ओर वह भारी स्फीति से ग्रस्त है तो दूसरी ओर मंदी की विपत्ति से ग्रस्त हो उठी है। कुछ व्यक्तियों की राय में इसे मंदी की स्थिति न कह कर केवल औद्योगिक शिथिलता की स्थिति कहा जा सकता है। भारत के वित्त मंत्री इसे औद्योगिक शिथिलता ही कहते हैं। कुछ इसे संभावित प्रतिसार की अवस्था बताना उचित समझते हैं। बात दरअसल में यह है कि आज़ादी के बाद पहली बार हमारे कुछ उद्योगों को बिक्री की कमी महसूस हुई है। अब तक हमारे देश में किसी भी प्रकार का निवेश लाभदायक था। पूँजीगत मालों के आयात बिलों में गड़बड़ करके, व विदेशी कम्पनियों व निर्यातकों से मेल-मिलाप करके भारत के पूँजीगत मालों के निर्माता कम्पनी खड़ी करने के पूर्व ही अपनी निवेशित राशि प्राप्त करने के आदी हो गए थे। उन्होंने कभी यह चिन्ता न की कि देश में माँग की कमी होगी, क्योंकि देश की पंचसाला योजनाएँ माँग पैदा करने में पर्याप्त समर्थ

थीं। इस वर्ष पहली बार यह स्थिति उत्पन्न हुई कि सूती कपड़ा, ऊन और कोयले के प्राचीन उद्योग गंभीर संकट से गुजर रहे हैं पर मंदी का सबसे ज्यादा असर इंजीनियरिंग उद्योगों पर पड़ा है।

स्थिति क्या है :—इस्पात से ढली वस्तुओं के उद्योग का रेल उपकरणों के निर्माण, मोटर गाड़ी उद्योग, और अन्य औद्योगिक यंत्रों के उद्योगों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। निजी क्षेत्र के इस उद्योग पर मंदी का बुरा असर पड़ा है। निजी क्षेत्र में १९६५-६६ में ६०, ४५० टन इस्पात की ढली वस्तुओं का उत्पादन हुआ जो कि ६६-६७ में घट कर ५४, ४९० टन हो गया। इसी प्रकार वस्त्रोद्योग की मशीनों की माँग में भी भारी कमी हुई है। वस्त्रोद्योग ने जो पहले ऑर्डर दिये थे उनका माल उठाने को वह तैयार नहीं है। १९६५-६६ टेक्सटाइल की २१६ मि० रुपयों की मशीनों का उत्पादन हुआ जो कि १९६६-६७ में १५४ मि० रुपयों का हो गया*। यही स्थिति पटसन व कोयला निर्माण उद्योग की रही है। इसी प्रकार सरकार द्वारा लगाए गए भारी करों के कारण मोटरगाड़ियों की माँग में भारी कमी हुई है। सूती धागे व वस्त्र के उत्पादन में भी कमी हुई है। पिछले दो वर्षों में सूती धागे का उत्पादन भी ७७४४ मि० मीटर से घटकर ७३०४ मि० मीटर हो गया है। गत जनवरी में एच० एम० टी० के पास लगभग २५ करोड़ रुपये के मशीनी औजार स्टॉक में थे और विवश होकर इस उद्योग को अपना उत्पादन कम करना पड़ा है। रेल वगैरों का निर्माण भी २४००० से घट कर १५,००० हो गया है। कुछ उत्पादन ह्रास सिलाई की मशीनों में भी हुआ है। पर यह कहना उचित नहीं है कि इंजीनियरों के सभी उद्योगों को मंदी का सामना करना पड़ा है। कई इंजीनियरी उद्योग ऐसे भी हैं जिनमें उत्पादन बढ़ गया है या स्थिर है। इन उद्योगों में नीचे लिखे उद्योग प्रमुख हैं।

मंदी के प्रभाव से मुक्त उद्योग (उत्पादन लाख रु० में)

उद्योग	१९६५-६६	१९६६-६७
(१) सीमेंट के कारखाने की मशीनें	४ करोड़ ९० लाख	६ करोड़ ४० लाख
(२) चीनी के कारखाने की मशीनें	७ करोड़ ७० लाख	९ करोड़ ४० लाख
(३) धातु उद्योग की मशीनें	३ करोड़ २० लाख	४ करोड़ ३० लाख
(४) कागज के कारखानों की मशीनें	१ करोड़ ६० लाख	२ करोड़ ३० लाख

पर आम तौर पर देश में समस्त माँग में ह्रास हुआ है। व्यवसायों की मौद्रिक आयें कम हुई हैं, बेरोजगारी बढ़ी है। पर सभी उद्योगों में यह स्थिति नहीं है, अतः भारत सरकार के अनुसार मंदी केवल इस्पात से ढली वस्तुओं के उद्योग, लोहे के गढ़े पाइपों, वस्त्रोद्योग, खनिज उद्योग व कोयले की खानों के यंत्रों, मोटर गाड़ियों, भवन निर्माण उपकरणों, मशीनी औजारों व रेल के डिब्बे बनाने के उद्योग में व्याप्त है। जब कि कई उपभोक्ता वस्तुओं में भारी स्फीति है, कुछ उद्योगों में मंदी चल रही है। कुल मिला कर स्थिति यह है कि व्यापार व्यवसाय में अनिश्चितता, पूँजी निवेश में कमी, उत्पादन क्षमता का अपर्याप्त उपयोग, कम

* इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली पृ० ४२४

क ख ग—१५

उत्पादन, बढ़ती हुई बेरोजगारी व श्रम व कच्चे माल की बढ़ती हुई लागत ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को एक विचित्र एवं परस्पर विरोधी स्थिति में डाल दिया है जिसमें उत्पादन व माँग में असंतुलन निरन्तर बढ़ता जा रहा है और देश स्फीतिक व प्रतिसारक प्रभावों से संव्रस्त है।

मंदी के कारण

किसी भी अर्थव्यवस्था में समस्त माँग उपभोक्ता व्यय, निर्यात परिमाण व सरकारी निवेश की माँग आदि पर निर्भर होती है। स्वाभाविक है कि मंदी के कारणों की खोज इन्हीं घटकों में की जानी चाहिये। वैसे यह जरूरी नहीं है कि अधिक उत्पादन क्षमता, कम मुनाफ़ा या कम माँग की स्थिति को मंदी कही जाये; क्योंकि कुछ उद्योगों में कुछ हद तक गिरावट आना स्वाभाविक है। फिर भी जब ऐसी स्थिति का व्यवसायियों की मनःस्थिति पर स्थायी प्रभाव पड़ने लगता है अर्थात् पूँजी को सीमान्त उत्पादकता कम होने लगती है, तो ऐसी स्थिति चिंता का विषय बन जाती है। ऐसी स्थिति बनने के हमारे देश में कई कारण रहे हैं।

तीसरी योजना की तथाकथित सफलता के बाद चौथी योजना के प्रारम्भ होने में विलम्ब ने साधनों के संचय में कमी उत्पन्न की है, जिसका दुष्प्रभाव सार्वजनिक निवेशों पर पड़ा है। दो युद्धों के कारण भारत सरकार को बहुत सा अनुत्पादक व्यय करना पड़ा है। इससे सरकार की खरीद का कार्यक्रम कम हो गया है। रेलवे बोर्ड ने १९६६-६७ में डबबे खरीदने के कार्यक्रम में ३३१० की कटौती की। भारतीय रेल द्वारा आर्डर कम दिये जाने के कारण तत्सम्बन्धी इंजीनियरी उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। दुर्भाग्यवश हमारा योजना तंत्र ऐसा रहा है कि कई उद्योग सरकारी माँग पर निर्भर हैं। चूँकि पिछले दो वर्षों में भारत सरकार योजना पर कम व्यय कर रही है अतएव कुछ उद्योगों में मंदी के आसार नज़र आ रहे हैं। हमारी योजना पद्धति का यह मूल दोष स्पष्ट है।

पिछले बीस वर्षों में भारतीय उद्योगों ने स्फीतिक परिस्थितियों में औद्योगिक उन्नति की, जिसके कारण भारतीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री तो बढ़ी लेकिन उत्पादकों ने उत्पादन लागत कम करने व किस्म नियन्त्रण करने की ओर ध्यान ही न दिया। विभिन्न प्रकार के आयात नियन्त्रणों ने उन्हें कृत्रिम सुरक्षा प्रदान की। स्थिति यह हो गई है कि हर प्रकार का निवेश लाभदायक हो गया। क्षमता बढ़ाने व सावधानी से खर्च करने की आवश्यकता ही नहीं रही क्योंकि किसी न किसी संस्था से सहज में ऋण मिल जाता था। अतः उत्पादन लागत इतनी हो गई कि उत्पादन इकाइयाँ अनार्थिक हो गईं, जिसका परिणाम अत्यन्त उँचे मूल्यों के कारण घटी हुई माँग में प्रकट होना स्वाभाविक है।

पिछले दो वर्षों में कृषि उद्योग में गिरावट आ जाने तथा प्रति वर्ष २.५ प्रतिशत की दर से देश की जनसंख्या निरन्तर बढ़ते रहने के कारण अनिवार्य वस्तुओं की आवश्यकता इतनी ज़्यादा बढ़ गई कि मध्य आय श्रेणी के व्यक्ति भी आराम की वस्तुएँ खरीदने में कठिनाई अनुभव करने लगे। पर उच्च आय के व्यक्तियों के पास आय का भारी केन्द्रण हुआ। ऐसे देशों में धनी जहाँ अधिक धनी होते जायें आराम की स्थानीय वस्तुओं का बाज़ार सीमित हो जाता है क्योंकि धनी व्यक्ति विदेशों से आयातित सामग्री खरीदने लगते हैं, और

आयात प्रतिबन्धों की दशा में वे उसे तस्कर व्यापार द्वारा प्राप्त करने लगते हैं। स्वभावतः देशी उपभोक्ता टिकाऊ मालों की माँग कम हो गई और उसके कारण उनके निर्माण करने वाले पूँजीगत मालों की माँग भी कम हो गई है।

पिछले दो तीन वर्षों में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने व खाद्यान्नों की मात्रा में कमी होने के कारण देश में खाद्यान्नों व कृषि वस्तुओं के भाव तेजी से बढ़े हैं। कृषि पदार्थों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि के कारण ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों की आय बढ़ गई है। ग्रामीण क्षेत्रों के लोग निर्मित वस्तुओं व इंजीनियरी वस्तुओं पर अपेक्षाकृत कम खर्च करते हैं। इस कारण भी औद्योगिक वस्तुओं की माँग में गिरावट उत्पन्न हुई है।

भारत के निर्यात व्यापार में इन वर्षों में निरन्तर कमी होती जा रही है। जून १९६५-६६ में भारत ने १६६३ मि० डालर की वस्तुएँ निर्यात कीं, पर जून १९६६-६७ के बीच में ये निर्यात १५५८ मि० डालर के ही रह गये, यद्यपि इस बीच में हम निर्यात बढ़ाने के लिए अवमूल्यन कर चुके थे। अवमूल्यन के पश्चात् आयातों के बारे में उदारता की नीति अपनाई गई, जिसका हमारे औद्योगिक उत्पादन पर असर तो पड़ा पर हम अभीष्ट निर्यात न बढ़ा सके व निर्यात उद्योग प्रगति न कर सका जिसका अर्थ व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता।

इधर स्फीतिक दबाव को कम करने के लिए अग्रत्यक्त करों में भारी वृद्धि हो गई। पर वह मूल्यों में तत्काल वृद्धि का कारण बनीं। रिज़र्व बैंक ने भी १९६५ में व्याज दर बढ़ा कर ६% कर दी। जिसका औद्योगिक लागतों पर असर पड़ा। बढ़ी हुई मँहगाई का सामना करने के लिए कर्मचारी वर्ग बढ़े हुए भत्ते की माँग करता रहा है। इसके कारण एक ओर श्रमिक अनुशासनहीनता से उत्पादन गिरा है तो दूसरी ओर बढ़े हुए मजदूरी बिल ने लागतों को बढ़ा दिया है। ये तत्त्व एक ओर मँहगाई को बढ़ाने में सहायक रहे हैं तो दूसरी ओर शहरी जनता मँहगाई के कारण अधिक वस्तुओं की माँग अधिक करने में असमर्थ रही है। और आज हम ऐसी स्थिति का सामना कर रहे हैं जिसमें संचित स्टॉक व उत्पादन क्षमता का पूरी तरह उपयोग न होने के कारण उत्पादन व माँग के बीच असंतुलन बढ़ता जा रहा है और हम मन्दी की भयानक स्थिति का सामना कर रहे हैं।

मंदी से बचने के उपाय

ऐसी स्थिति में एक मात्र उपाय यह है कि अनिवार्य वस्तुओं के मूल्य में कमी की जाये व स्फीतिक दबाव को रोका जाये। साथ ही टिकाऊ वस्तुओं की माँग को देश व विदेश की मंडियों में बढ़ाया जाय। निर्यात उद्योग के प्रोत्साहन से भी स्थिति में काफ़ी सुधार हो सकेगा पर इसके लिए आवश्यक होगा कि हमारे उद्योगों व उत्पादनों की लागतें कम हों, इसलिए देश की कर नीति पर विचार करना होगा। जापान दस वर्षों में १२ बार करों में कटौती करके अपनी विकास दर ११% बनाये रखने में समर्थ रहा है। हमें इस दृष्टि से अपनी कर संरचना पर विचार करना आवश्यक है।

आर्थिक समतावाद भी दीर्घकालीन माँग को उत्पन्न करने की दृष्टि से व्यवहारिक नीति है, क्योंकि आंतरिक संकटों का मूल कारण गरीबी है। जैसा स्पष्ट है कि अधिक धनी व्यक्ति देश में निर्मित वस्तुओं के अच्छे ग्राहक नहीं बन पाते अतः निर्धनों को धनी बनाना क ख ग—१५

जरूरी है। इसी प्रकार उत्पादन के स्वरूप पर भी नियंत्रण रखना जरूरी है जिससे माँग के स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन लाये जा सकें। इन सबके लिए उद्योगों के आधार को अधिक व्यापक बनाना होगा और विभिन्न दिशाओं में उसे फैलाने का प्रयत्न करना होगा।

पर अनेक अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में हमारे देश में मंदी इतनी व्यापक नहीं है जितना कि प्रचार किया जा रहा है। यह स्थिति कुछ उद्योग विशेष में पाई जा रही है; बल्कि किसी एक उद्योग के अंग विशेष में उत्पन्न हो गई है। जैसे इंजीनियरिंग उद्योग के सीमेन्ट व चीनी उत्पादन की मशीन उद्योगों में नहीं पाई जाती अतः उनकी राय में मंदी की व अप्रयुक्त क्षमता की स्थिति की जाँच विशेष उद्योगों की दृष्टि से की जाय और जिन उद्योगों में यह स्थिति हो, उनमें इसके कारणों की जाँच करके उन्हें दूर करने के प्रयत्न किये जायें तो उपयुक्त होगा। यदि मंदी के निराकरण करने में स्फीति को अधिक बल मिला तो उसका सारी अर्थव्यवस्था व योजना तंत्र पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

देश में आज जो कुछ आर्थिक गिरावट की स्थिति हम देखते हैं उसमें आर्थिक आयोजन की गति में शिथिलता प्रमुख कारण रही है। दुर्भाग्यवश तीसरी योजना की असफलता के बाद से हम योजनाओं के प्रति शंकित रहे हैं। कहीं-कहीं तो पंचवर्षीय आयोजन को समाप्त करने की बात की जाती रही है। चौथी योजना में क्रियान्वयन के होने वाले विलम्ब ने ही माँग की कमी को पैदा करने में मदद की है। साथ ही योजना पद्धति ऐसी रही है कि निजी क्षेत्र के कई उद्योग सार्वजनिक उद्योगों पर आश्रित हो गए हैं और सरकारी माँग में कमी उनके लिए संकटप्रद बन जाती है। आवश्यकता है कि ऐसी स्थिति को सुधारा जाये और उद्योग अपनी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति पर विकास करें न कि सरकारी माँग के कृत्रिम सहारे पर अपना अस्तित्व बनाये रखें। अतः योजनागत निवेशों में वृद्धि ही इसको दूर करने का प्रमुख उपाय है।

साथ ही जरूरी होगा कि देश के उपभोग पैटर्न में भी आवश्यक परिवर्तन किये जायें। पिछले वर्षों में कृषि को कम महत्व प्रदान करने का जो दुष्परिणाम हमारे उद्योगों पर पड़ा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लुईस का कहना है कि औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि के कारण अन्न और कच्चे माल की माँग बढ़ती है। यदि खेती की पैदावार न बढ़े तो कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ जाते हैं। परिणामस्वरूप वेतन व मजदूरी में वृद्धि हो जाती है। उद्योगों में मुनाफ़ा कम हो जाता है और अन्ततः औद्योगिक विकास रुक जाता है। वर्तमान संकट लगभग इसी प्रकार का है, अतः कृषि उत्पादन में तात्कालिक वृद्धि व ग्रामीण उद्योगों का प्रसार भी एक हद तक ऐसी स्थिति से उबार सकता है। कृषि को आधुनिक बनाने और शहरी क्षेत्र को खेती से सम्बन्धित करने के काम निश्चित रूप से शीघ्र पूरे किये जाने चाहिये ताकि ग्रामीण शक्ति का पूरा उपयोग किया जा सके। साथ ही कृषि के उत्पादनों को निर्यात कार्यों में अधिक प्रयुक्त किया जा सकता है। यह भी आवश्यक होगा कि औद्योगिक क्षेत्रों में मालिक मजदूर सम्बन्ध अच्छे हों। इन सम्बन्धों में होने वाले तनावों के कारणों को तत्काल खोज कर उनके निराकरण की उचित व्यवस्था की जाये ताकि उत्पादन यन्त्र अबाध गति से चलता रहे।

सरकारी कार्रवाई—भारत सरकार ने उद्योगों में व्याप्त मंदी का सामना करने के लिये अनेक कदम उठाये हैं। कच्चे माल व कल पुर्जे व कम्पोनेन्टों के आयात के बारे में

उदार नीति अपनाई है। अप्रयुक्त क्षमता वाले अनेक उद्योगों से लाइसेन्स वापिस लिये हैं व कई उद्योगों को विविधीकरण की अनुमति प्रदान की है। भारतीय रेलवे ने आर्डर पेशगी दिये हैं व वस्त्रोद्योग, जूट व कोयला उद्योगों के विस्तार और इंजीनियरी वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए वित्त व्यवस्था की गई है। हाल ही में रिजर्व बैंक ने कुछ इंजीनियरी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये ऋण सुविधाएँ प्रदान की हैं विशेषकर निर्यात उद्योगों को निर्यात वृद्धि की दृष्टि से अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं साथ ही आयात प्रतिस्थापना के कार्य को भी तेजी से आगे बढ़ाने का निश्चय किया गया है। हाल ही में रिजर्व बैंक ने अपनी बैंक-दर घटाकर देश में निवेश के लिये पर्याप्त वातावरण पैदा करने व अर्थ व्यवस्था को अधिक सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। इस वर्ष कृषि उत्पादन के बढ़े हुए परिमाण का देश की अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा है और औद्योगिक उत्पादनशीलता में वृद्धि व मंदी में कमी के आसार स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे हैं व स्फीतिक दबाव भी कम हुआ है।

पर भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति में स्फीति व मंदी के परस्पर विरोधी तत्वों के अस्तित्व का मूल कारण हमारी दोषपूर्ण आर्थिक संरचना है और उसमें ही आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हैं ताकि एक सशक्त ढांचा तैयार हो सके। इसके लिये आवश्यक होगा कि सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्तरों पर दीर्घकालीन दृष्टि से विचार किया जाये, आवश्यक कार्यवाही की जाये। साथ ही हमारी अर्थव्यवस्था में मूल्य व उत्पादन लागत में उत्पन्न वर्तमान असंतुलन को दूर करके ही मंदी से छुटकारा पाया जा सकता है। इसके लिये मुद्रा विस्फीतिकारी नीति को भी कुछ अंश तक अपनाना आवश्यक हो सकता है। पर हमारे उद्योगपतियों को यह समझना आवश्यक है कि मंदी की स्थिति से वे केवल क्षमता वृद्धि कर व लागतें कम करके ही छुटकारा पा सकते हैं। और इसके लिए उन्हें सरकारी सहायता के साथ-साथ अपने प्रयासों पर अधिक आश्रित रहना पड़ेगा। यही मंदी के निराकरण का मूल मंत्र होगा। यद्यपि चौथी योजना का शीघ्रताशीघ्र क्रियान्वयन इसके निराकरण में तात्कालिक सहायता अवश्य प्रदान कर सकेगा।

—त्रिभुवन चतुर्वेदी

समीक्षा

आत्महत्या के विरुद्ध

(रघुवीर सहाय का कविता-संग्रह । राजकमल प्रकाशन । मूल्य पाँच रुपये ।)

न कहीं से हवा आये और यह पृष्ठ पलट जाये
कि मेरी कविता के सहावरे की बहुत नकल हो चुकी
(सफल जीवन)

हो सकता है कि

मेरी कविता की नकलें

अकविता जायें ।

(स्वाधीन व्यक्ति)

रघुवीर सहाय यह सब क्यों कह रहे हैं जब कि उनकी कविताएँ व्यक्तित्व की खोज की बीहड़ यात्राएँ हैं । (प्रस्तुत पुस्तक का आच्छादन देखें ।) बीहड़ की नकल आसान नहीं है । नकल करने वाले बहादुर हो नहीं सकते । क्योंकि बहादुर होते तो नकल ही क्यों करते । और तब नकलची बीहड़ की नकल नहीं कर सकता । तो क्या कोई कमी है रघुवीर सहाय में या नकलची भी बीहड़ होता है ?

रघुवीर सहाय एक सम्भावना यह भी सोचते हैं कि शायद मेरी कविता की नकल अकविता हो जा सकती है । (उनके क्रियापदीय प्रयोग की नकल करें तो कह सकते हैं कि उनकी कविता की नकलें अकविता जा सकती हैं ।) तो क्या उनकी कविता में कुछ ऐसा है जो अकविता या अकविता जैसा है अथवा उनकी कविता इतनी सही और सटीक कविता है कि उनकी नकल सम्भव नहीं है और यदि नकल की गयी तो वह कविता नहीं रह जायगी, या वह तथाकथित अकविता हो जायगी ।

पहले नकल को लें । कला में नकल क्या है ? या तो हम रचनाकार को पूर्णतया हड़प लेना, आत्मसात् कर लेना चाहते हैं या किसी ऐसी एकाग्र रचना को अपनी कहलवाना चाहते हैं जो हमारी अपनी लगती है । लेकिन हमारा भी व्यक्तित्व होता है या हमारी भी एकाग्र या कोई भी रचना होती है । तब क्या होता है ? हम जिसे समग्रतः अपने भीतर समो लेना चाहते हैं या तो हम उसके समानान्तर हो जाते हैं या आगे चले जाते हैं और असफल हुए तो उपग्रह बन जाते हैं या पीछे ठिकल जाते हैं । जहाँ तक एकाग्र रचना को अपनी कहलवाने

का सवाल है वहाँ अपने व्यक्तित्व की निकटता या समानान्तरता या पहचान होती है, तभी ऐसा घटित होता है।

रघुवीर सहाय की जो नकलें हुई हैं क्या ऐसी ही हैं ?—नहीं। कतई नहीं। वह तब होता है जब सम्पूर्ण व्यक्तित्व या एकाग्र रचना में कुछ ऐसा विशिष्ट होता है, जो अन्यत्र नहीं होता। यहाँ बल्कि उस क्रिया को 'नकल' कहना बड़ी छोटी बात होगी। वह या तो आत्मसात करना होगा या प्रभाव ग्रहण करना जिसे परम्परा भी कहा जाता है। और ऐसा नहीं है कि रघुवीर सहाय में विशिष्ट नहीं है। चूँकि उसे आत्मसात् नहीं किया गया है इसलिए वह उन्हीं तक है। लेकिन उनमें कुछ ऐसा भी है जो गजल की रवानी और सफ़ाई जैसा है, या लखनउआ है या वह वर्तमान है जो सबका अपना है और रघुवीर सहाय में भी विशिष्ट नहीं बन पाया है, यह रवानी, यह सफ़ाई, यह लखनउआ ठाठ और सबका अपनपौ खींचता है इसीलिए रघुवीर सहाय की नकल हुई है और इतनी ही नकल हुई है और इतने ही अर्थों में वे प्रचलित हो सके हैं, प्रसिद्ध हो सके हैं। उन्हें 'सहज' भी इसीलिए कह दिया गया है। और इसीलिए उनकी नकलें अकविता हो सकती हैं, प्रायः हो गयी हैं। चूँकि ये तत्त्व उनमें हैं जो उन्हें वैशिष्ट्य नहीं देते, बल्कि कहें कि बीहड़ को आसान बना देते हैं, इसलिए उनकी कविता की नकल एक आसान बात हो गयी है और खुद उनके लिए कम खतरनाक नहीं कि जहाँ तक नकलें अकवितायेंगी, उनकी कविता भी उस दशा तक पहुँच जा सकेगी। अब शायद पहले वाले दोनों प्रश्न, प्रश्न नहीं रह जाते।

एक उद्धरण देना चाहूँगा उनकी एक कहानी से। वे कहते हैं :

'उसे सुनाने में मेरा कुछ नहीं लगता न समय, न श्रम, किन्तु मैं हिचकता हूँ यह सोच कर कि कहानी तो है बहुत छोटी-सी, इत्ती-सी क्योंकि वह सरल है, और सरल इसीलिए है कि वह सच्ची है और मानवीय है।' (कहानी की कला, सीढ़ियों पर धूप में, पृष्ठ ७५)

अगर चीज़ सरल हो यानी इतनी जटिल कि सच्ची और मानवीय तो कहने में हिचक होगी क्योंकि सम्भव है संपूर्ण और सुंदर न हो पाये या इतनी परिचित सी चीज़ लगे कि हम कह उठें, इसमें आखिर बात क्या हुई। यही वह बीहड़ यात्रा है इस कवि के लिए, जिसमें वह समय लगाता है, श्रम लगाता है, यह उसकी प्रसादमयता बताती है।

सरलता सबसे जटिल चीज़ है और यदि वह सम्पूर्ण और सुन्दर हो तब तो और भी। क्या रघुवीर सहाय के इस संग्रह में ऐसा है या ऐसा ही है ? या पहले वाले संग्रह में भी इसलिए है या नहीं है ?

पहले वाले संग्रह में सरलता थी और उसका केन्द्र एक था और उसकी परिधि ज्यादा नहीं थी। इसलिए उसकी जटिलताएँ पहचानी जा सकती थीं और क्योंकि यह बहुत मुश्किल नहीं था कि उसका केन्द्र व्यक्ति का ग्रह था जो परिधि में अनुभूति से, पितापन से, मध्यवर्गीयता से फैला हुआ सामाजिक था। लेकिन इस संग्रह में वह एक 'मतदाता' है और यह बुरा नहीं है कि वह 'मतदाता' है, उसकी तैयारियाँ और जिम्मेदारियाँ बढ़ गयी हैं। उसका बीहड़ और जटिल वही या उतना ही बीहड़ और जटिल नहीं रह गया है। जिस अन्दर-बाहर को उसने सपाट करके एक सच्ची और सम्पूर्ण कविता पायी थी और यह कितना सुन्दर था कि

उसने सौन्दर्य को देख लिया था, उसी अन्दर-बाहर के सपाट को उसने अखबार जैसा पाया। शाश्वत और दैनिक, विराट और सपाट, व्यक्ति और लोकतंत्र, दरके हुए दरवाजे की जगह दरकी हुई धरती, पानी में भाँकते हुए हाँ-ना की भावाकृतियों के स्थान पर हवा से हाँ-ना होते धुएँ और उनके अन्तर को उसने देखा। वह विस्तृत और व्यापक में दीसिवान अनुभव-यंत्र सहित आ धमका क्योंकि रचना उसका कर्म है और वक्तव्य का नतीजा है ये कविताएँ।

तब उसने क्या किया? उसने कई केन्द्रों से कई परिधियाँ बनायीं (या कि उन केन्द्रों से वह उन परिधियों को नंगी बेलौस आवाज की तरह दे दिया गया) और भीड़ और मतदाता को व्यक्त कर दिया।

भीड़ और मतदाता और कवि स्वयं अखबार से उठकर क्या कविता हो गये हैं? अन्दर-बाहर का हुआ सपाट क्या अटूट बना हुआ है? जटिल से जटिलतर यहाँ सूँघा जा सकता है? और अन्ततः क्या हम कह सकते हैं कि हम अखबार या दैनिक नहीं पढ़ रहे हैं, कविता पढ़ रहे हैं या कहें कि मतदाता कवि है; उसके मत ये कविताएँ हैं?

पर अभी रुकिए, 'सीढ़ियों पर धूप में' तथा 'आत्महत्या के विरुद्ध' के बीच जो समय है उसमें क्या ऐसा कुछ नहीं है, जो भीड़ और मतदाता को, इस अंतर्बाह्य को, इस मुक्ति के एहसास को अनियंत्रित विशृंखल-विजड़न को नहीं व्यक्त करता? पृष्ठ भरने की आवश्यकता नहीं है और नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं है कि यह अंतराल अखबार से और कोलाज शैली में कमोबेश कविता हो गया है, भीड़ के प्रति (या 'जनता' कह लें) नफरत दिखी है, मतदाता व्यक्त हुआ है, (इसे कम्युनिस्ट लेखक-संपादक अपने पक्ष में लेता है।) 'शानदार जिदगी और कुत्ते की मौत के बीच इन्सान को चाँपता लोकतंत्र' बहुत बार व्यक्त हुआ है। अंतर्बाह्य मुक्ति का एहसास, विशृंखल, विजड़ित, सब व्यक्त हुआ है। बल्कि वह भी कलम की नोक से चू गया है, जो अच्यव्य था, खुद अनियंत्रित था। यानी स्वतंत्रता के बाद जो मोह-भंग हुआ और जो मोह-भंग हुआ, उससे जो चरखशीलता, पतनशीलता, एर्नाकिकता, दलबदल-शीलता और अंततः शीलभंगता जैसी विकृत पंचशीलताएँ आयीं उनके प्रति नफरत और व्यक्तित्व की पुनः खोज और जिज्ञासा तथा चिन्तन के क्षेत्र आवश्यक अतः विकसित हुए। समूह-भाव नये सिरे से समूह-भाव बना। एक अर्थ में 'लघु मानव' 'एक्स्ट्रा' हो गया। ('नगण्य मानव' तो नामवर कम्युनिस्ट हुआ।) तो अहं की टकराहट सर्वत्र थी, अहं सर्वत्र कुठित था, अहं सर्वत्र वयं होने-होने को था। पर रचना में, यदि व्यक्तित्व है तो वह पृथक और पृथक होगा अन्यथा नकल होगा।

अब आसान होगा रघुवीर सहाय और इस संग्रह से संबद्ध प्रश्नों का समाधान कर लेना। भाषा की कुछ ऐसी बारीकियाँ जो रघुवीर सहाय की निजी बारीकियाँ हैं उनमें एक खास है जोड़ने और जोड़कर बढ़ाने का तरीका, गुम्फन का ढंग, यह रघुवीर सहाय में पहले और दूसरे संग्रह में देखा जा सकता है। पहले में पाठक के लिए अपरिचित है दूसरे में उनकी पहचान को सुरक्षित रखे हुए है। दूसरी विधि है इतनी चौक कि पलक भरे और उठे और चौक एक सरल खुशकिस्मती बन जाय, चमकदार रंगों का एक सिल-सिला बन जाय। (कवि के ही शब्दों में कहें तो पाठक की चौक का स्वरूप इस प्रकार होगा :

भ्रम से अन्तर्ज्योति मुखड़े पर आयी

लेखराम दौड़े

इतने में चली गयी ।)

और वाक्य-संघटना का एक ऐसा साफ़ लहजा जिसमें बात-बात में बात निकलती चले, हरकत बनी रहे, नहीं, बल्कि चमकती रहे—पारदर्श, (हरकत को ज्यादातर लोग 'शरारत' कह रहे हैं, पर 'हरकत' ज्यादा सही शब्द है ।) और अंततः कथ्य सतह पर पटकनिया न खाय, ऊँचाई पर गतिमान रहे । शब्दों, तुकों, अनुभवों और विशेषणों की खोज, जो ढूँढ़े नहीं मिलते और जो चौंकाने से ज्यादा धूप-सा कुछ ले आते हैं, बर्तनों की तरह चमककर धीरे से जाड़े के गुनगुने घाम से सारा अन्तराल भर देते हैं । देह और देश की वे पहचानें इस चौंक में सधी हुई और संपूर्ण हो जाती हैं, अनुभूतियाँ एक रंग के नये मोड़ में चमककर पानी में सीझती हरकत बन जाती हैं । इसी तरह और भी । जैसे कि छंद और अछंद सबमें महारत हासिल है रघुवीर सहाय को और उनका महावरा सबमें जान डाल सकता है ।

इस संग्रह में नाम भी हैं । मुसद्दीलाल (बतर्ज मलयज के 'चुन्नीलाल चित्रकार'), खुशीराम (जैसे आशाराम) जो अपने नाम के कारण व्यंग्य की वृद्धि करते हैं । कभी-कभी दो नामों के आमने-सामने होने और उनके सम्बन्धों के कारण भी यह व्यंग्य जीवन्त होता है । जैसे दिग्विजयनारायण सिंह के सामने भोलारामदास । यह सब परिचित प्रयोग हैं । इनमें परिचित और प्रयोग सम हैं, इसलिए बुरा नहीं लगता, पर नया भी नहीं लगता । पर यह सार्थक है, इसलिए संगत भी है । (कुछ नाम नेताओं के हैं और यह नंगी और बेलौस आवाज़ को और आगे ले जाना है क्योंकि ये नाम कवि की अनुभूति के साथ आये हैं ।)

'अध्यक्ष' के साथ 'उपस्थ' जैसा तुक, 'डब्बाबन्द शोर' में 'डब्बाबन्द' जैसा विशेषण, 'टङ्ग' जैसी ध्वनि, 'मन्थर मटकता मन्त्री मुसद्दीलाल महन्त मंच पर चढ़ा' जैसी व्यंग्यात्मक अनुप्रासात्मकता, 'मुन्न से' और 'भें से' जैसे ध्वनि-व्यंजक शब्द, 'कढ़िल कर' जैसे क्रिया-पद, 'समय जो गया है । मेरे तलुवे से छन कर पाताल में । वह जानता हूँ' जैसे एक वाक्य में देश, काल और चेतना का अद्वैत और व्यंग्य और अतिशयोक्ति, 'जहाँ बच्चे सो रहे थे । अधलिखे खत-से' जैसी काल को आगे ले जाने वाली उपमा, 'लाखों का दर्द' में 'दर्द' को पृथक् करके दिखा देने का भीड़ में फँसे हुए अनुभवी का तर्क, 'अतुकान्त जिज्ञासा,' 'कुंकुआते राजकवि', 'मैलखोरा रंग', 'तेलौस मेज' जैसे विशेषण, 'ढ नहीं ट' जैसे अचरों से अर्थ पर बल, 'चितपट किया चित्रपट किया चौपट किया' जैसे वाक्यों में तुक-छल से अर्थ-सृष्टि, 'सीने में भरे साबूदाना' में खालीपन और कायरता, 'रंगी-चुंगी पंजाबिन, धुलो-पुँछी बंगालिन, रूखी मराठिन' से गन्ध-भेद, 'भाषण' शीर्षक कविता में तर्कहीन अकथ्य और बेमतलब की सरकारी बकवास का मजाक, 'तेरे कन्वे' से रंगों की सही पहचान, 'मैं सो न सका मैं रो न सका मैं पों न सका । पों क्या माने ?' में गीत की लय की साथ जीवन-क्रम पर व्यंग्य, 'हाय-हाय करते हुए हाँ-हाँ करते हुए हेँ-हेँ करते हुए' जैसे तीन प्रकार के भावों की क्रियात्मक ध्वनियों से पूरी जनता पर चोट, 'हिरदै' और 'हानी' जैसे प्रचलित शब्दों के प्रयोग से उभरता व्यंग्य, और

अंततः 'अकविता' के सुप्रतीक 'अंडकोष' का संगत प्रयोग, यह सब द्रष्टव्य है, अभिशंसनीय है। इस तरह के प्रयोग और भी हैं और देखे जा सकते हैं। कई कविताएँ (जैसे मूर्ख मूर्ख मेरी ओर, हरी गहरी रात, लाखों का दर्द, शहर से बाहर, मैदान में, रचता वृत्त, चढ़ती स्त्री, खड़ी स्त्री, खिंचा गुलाब, तेरे कन्धे, अधिनायक, अकेला) और कई कविताओं के अंश या कई अंश काफ़ी माने रखते हैं; उनका कई दृष्टियों से महत्त्व है। कविताओं में कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ देश की विविध गंध मिलती है, दायित्व और जन-मत का सही रूप स्पष्ट होता है। (द्रष्टव्य गिरीश की मृत्यु, अकाल, नयी हँसी, मेरा प्रतिनिधि, आत्महत्या के विरुद्ध, टोपी वाला बाजा, लोकतंत्रीय मृत्यु, शराब के बाद का सबेरा, मेरा मीजा दिल, स्वाधीन व्यक्ति, फ़िल्म के बाद चीख, हमारी हिन्दी, एक अंधेड़ भारतीय आत्मा)।

यह सब है और यह दूसरों के यहाँ छपे-अनछपे रूप में दूसरे तरीके से है। पर यह विशिष्ट है। इसके बाद फिर वही प्रश्न आते हैं जो अनुत्तरित रह गये हैं।

अखबार कविता जब बनता है तब उसके दो तरीके होते हैं। एक तो यह कि अखबार की गंध भी नहीं आती और कविता इतनी ऊँची हो जाती है कि उसमें विधान्तर हो जाता है, वह नाटक या भाषा का महारास हो जाती है, जिसमें सारा इतिहास व्यक्तित्व की दीप्ति से उजागर एक नया आरम्भ हो जाता है। दूसरा तरीका यह है कि अखबार की गंध तो आ जाती है लेकिन परिचय मात्र के कारण, अन्यथा नहीं, और वह कविता होती है, केवल कविता, अखबार उसके पार्श्व में होता है, परिवेश की तरह, कतरन की तरह, ढाँचे की तरह, बस। इन कविताओं में नंगी और बेलौस आवाज़ के आग्रह (या पूर्वग्रह) के कारण (आसानी के लिए शायद) अखबार का सीधा उपयोग हुआ है, यह कविता के बाहर नहीं है, अन्दर जाता हुआ कविता को तहस-नहस करता है, खंडित करता है, गद्यमय करता है, छन्द के बावजूद लयात्मक नहीं बनाता, मुक्त छन्द के बावजूद अखबार से मुक्ति नहीं देता। 'औरतें बाँधे हुए उरोज। पोटली के अन्दर है भूख' जैसी व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के बावजूद 'अकाल' शीर्षक कविता पंत के छन्द का बहुत बढ़िया उपयोग नहीं कर पायी है। केवल यहाँ (मोरार जी की खीस की तरह) 'ईसपगोल' का व्यंग्यार्थ काव्य के निकट ज़्यादा आ पाता है। शेष पुरानों जैसा ढर्रा या अखबार जहाँ कविता का कंकाल खड़ा है। ऊपर और नीचे की पंक्तियों से जोड़कर भी कंकाल को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता।

और अंतर्बाह्य के अद्वैत को, यानी जोड़ने के तरीके को भी यहाँ इतना मज़बूत नहीं बनाया गया है कि वे अद्वैत रह सकें, जोड़ खुले नहीं। कभी-कभी तो यह जोड़ शोभा हो गया है या अनावश्यकता। 'लोकतंत्रीय मृत्यु' में शुरू के दो अनुच्छेद पार्श्वमात्र हैं जो कविता को सीमित करते हैं—'दिल्ली' तक, (दिल्ली को फैलाते भी नहीं) उन्हें हटा दें तो कविता ज़्यादा नंगी और ज़्यादा बेलौस होगी। इसी तरह 'कोई एक और मतदाता' की 'इतना दुख मैं देख नहीं सकता' पंक्ति यदि न होती तो वह अन्तराल क्या ज़्यादा अर्थभरा न होता? लेकिन निचली पंक्तियों के लिए इस अंतराल को इस पंक्ति से (जो बहुतों को बेहद सार्थक लगेगी, जो कहानी के लायक शायद हो फ़िलहाल) भरना जोड़ को खोल देना है।

'सीढ़ियों पर धूप में' में प्रायः जटिल और बीहड़ को इस सीमा तक ले जाया गया है कि

वाक्य और वाक्य के सम्बन्ध (और अंतर्बाह्य सम्बन्ध भी) पेंचदार होकर भी सरल हैं, कि कविता विश्लेषण और तर्क जैसी हो कर भी कविता रह सकी है, भाषा के वैविध्य वहाँ पल्लवित होते चले गये हैं और अहं खिंचे गुलाब-सा प्रस्फुटित होता गया है, अभिव्यक्ति फूलभरी अँजुरी-सी विनय-मुद्रित सुखि मानो कुरै देती है 'हवा की तरह जो धूप को उड़ाये लिये जाती है।' पर इसमें, इस संग्रह में यह 'व्यापकतर संसार' केन्द्रों और बड़ी परिधियों वाला होने के कारण ज्यादा जटिल और ज्यादा बीहड़ हो गया है। यहाँ केवल पहले की तरह के तरीके से काम नहीं चलने का। एक तो कवि और पाठक, दोनों इससे परिचित हैं, उनके सहारे यह सब बेहद आसान हो जा सकता है और ज्यादा कहने की लालसा जगा सकता है और ऐसा हुआ भी है। दूसरे यह व्यापक संसार सतही हो जा सकता है, गहरा नहीं हो सकता, सतही भले ही सार्थक और मूल्यवान चाहे जितना हो, पर होगा सतही ही, उसमें गहराई की विमा जुड़नी जरूरी है। स्मृतियों से कविता को विस्तार दिया जा सकता है, लेकिन उनकी उद्धरणी प्रस्तुत करने से परिवेश बनते जाने की विवशता ढोनी होगी और इन कविताओं में ये उद्धरणियाँ भी हैं जिनमें रघुवीर सहाय अपने परिवेश होते गये हैं। अपने आपसे इस क्रूर प्रभावित होना कि हर बार हवा वही हवा लगे जो धूप ही उड़ाये, गर्द नहीं, बहुत बड़ा खतरा है।

स्मृति की प्रत्यभिज्ञा और उद्धरणी से, जटिलतर अनुभव को अखबार का सहारा दे देने से हुआ यह है कि भीड़ (यानी जनता, लाख नफ़रत के बावजूद) अन्दर भिदती नहीं, बाहर ही रह जाती है। वह सतह से सतह तक रहती है—तेल-सी चिकनी, बिछलती—पानी पर छपी, अखबार से अनुभव की ढीली पकड़ तक—कभी-कभी या कहीं-कहीं इस प्रकार भी कि उम्मीद बँधती है कि ये छोटे बच्चों के कोर्स में न लग जायँ। और जहाँ सतह से नीचे, गहरे पहुँच सकी है, वहाँ रघुवीर सहाय स्मृति और अपने परिवेश से अलग हो गये हैं— निश्चय ही।

इन स्थितियों में ये कविताएँ उतनी शरारती या हरकती भी नहीं हैं जितनी कि होतीं। शरारत कविता में सही तरीके से पहली बार विपिन कुमार अग्रवाल में सम्भव हुई है और नाटक बनता गया है, भाषा का भी और-भीतर-बाहर का भी, लेकिन उनकी या उनकी कविता की बात से लेख का माने बदल सकता है, इसलिए उन्हें छोड़ता हूँ।

स्पष्ट है कि अखबार का सही उपयोग नहीं हो पाया है, व्यापक संसार के लिए जिस जटिलता की जरूरत थी, उसे अखबार से सरल कर लिया गया है, अंदर-बाहर के सपाट को जहाँ एक कर दिया गया था, वहाँ प्रायः उसके जोड़ खुल गये हैं और कवि खुद के परिवेश से बँधता भी गया है, उसके बावजूद उसकी कविता इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान को सही पहचान के कारण, सूक्ष्म पर्यवेक्षण और अप्रतीकी अभिव्यक्ति के कारण सार्थक है और इसीलिए 'आत्महत्या के विरुद्ध' और उसका कवि वर्तमान में ही इतने ज्यादा पहचाने जाने योग्य हैं कि उनका मूल्यांकन करना बेहद जरूरी लगे।

श्रीराम वर्मा

बच्चों को

आम तौर पर होने वाली तकलीफों
जैसे सर्दी, जुकाम, पतले दस्त
पेट का बढ़ जाना आदि का.....
मुक़ाबला करने के
लिए काफी ताक़त
पैदा करता है ।

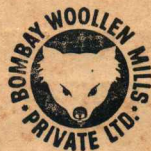
इन्फ़ण्टीन ग्राइप वॉटर सब बच्चों के लिए हर मौसम में
आदर्श व लाभदायक है ।

निर्माता : हैदराबाद केमिकल एण्ड फ़ार्मास्युटिकल वर्क्स लि०
हैदराबाद-आन्ध्र प्रदेश



क्रिस्टिना बुनाई के
घाणों में लिपटा हुआ
प्रेम से ओतप्रोत

बम्बई वूलेन्स के अपने लाइले कोला (भालू) की तरह वह भी सुख और गरमाहट का अनुभव कर रहा है। क्रिस्टिना के हाथ के बूने मुलायम और गरम ऊनी कपड़े बच्चे को सर्द और तूफानी मौसम में आराम से रखते हैं। बम्बई वूलेन्स के बुनाई ऊन तेरह आधुनिक और भिन्न-भिन्न किस्मों और आकर्षक रंगों में मिलते हैं। कोला भालूका चिन्ह देख कर ही ऊन खरीदिये ■ इसे कीड़े नहीं काटते ■ इसमें सिकुड़न नहीं आती और ■ इसका रंग पक्का होता है।



'TERYLENE'
Polyester ICI Fibre

दि बम्बई वूलेन मिल्स
(प्राइवेट) लिमिटेड
२०, हमाम स्ट्रीट, बम्बई-१